तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन

गोपीनाथ कविराज

तंत्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन

लेखक

महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक

पं० हंस कुमार तिवारी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग,
सैदपुर, पटना - ८०० ००४

संस्करण : प्रथमावृत्ति- २०००: शकाब्द १८८६, विक्रमाब्द २०२१,
ख्रीष्टाब्द १९६५
द्वितीय संस्करण - विक्रमाब्द २०५९, ख्रीष्टाब्द २००३

मूल्य : ५०.०० रुपये

मुद्रक : इन्द्रप्रस्थ इन्टरनेशनल
द्वारा : तरुण प्रिन्टर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

वक्तव्य

[द्वितीय संस्करण]

भारतीय विद्या के अद्वितीय विद्वान और साधक म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज के अनेक ग्रंथों को प्रकाशित करने का गौरव बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को प्राप्त है। **काशी की सारस्वत साधना, भारतीय संस्कृति और साधना, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, तांत्रिक साधना और सिद्धांत** आदि महत्वपूर्ण ग्रथों का प्रकाशन परिषद् ने ही किया है।

म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज की इन पुस्तकों की मांग सर्वाधिक रहती है।

इसी क्रम में मूल बंगला से अनूदित **तंत्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन** प्रकाशित हुआ था। इस लघुकाय ग्रंथ की सारी प्रतियां पिछले वर्षों में बिक गयीं।

एक अंतराल के बाद इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, तांत्रिक वाङ्मय में रुचि रखने वाले पाठकों को अब पुस्तक की अनुपलब्धता की शिकायत न होगी।

रामधारी सिंह दिवाकर
निदेशक

वसंत पंचमी
विक्रमाब्द २०५९
ई० सन् २००३

वक्तव्य

महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की तीन पुस्तकें 'काशी की सारस्वत साधना', 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' तथा 'भारतीय संस्कृति और साधना' पहले ही परिषद् से प्रकाशित हो चुकी हैं। पाठकों की सदा माँग होती रही है कि कविराजजी की अन्य पुस्तकें भी परिषद् से निकाली जायँ। उनकी अभिरुचि, आग्रह और निरन्तर जिज्ञासा को देखते हुए परिषद् के संचालक-मण्डल ने निर्णय लिया कि डॉ० गोपीनाथ कविराज के लिखे तान्त्रिक ग्रन्थों को बँगला से अनूदित करके प्रकाशित किया जाय। तदनुसार 'तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन' नामक लघुकाय ग्रन्थ का यह अनुवाद आज आपके सामने है। इसके साथ ही 'तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त' नामक दूसरा ग्रन्थ भी मुद्रित हो रहा है, जिसका प्रकाशन भी निकट भविष्य में होगा। उक्त दोनों पुस्तकों का अनुवादक इन पंक्तियों का लेखक ही है। उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के भी अनुवाद और प्रकाशन की योजना है, जिसे हम भविष्य में कार्यान्वित करेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता का एकमात्र प्रमाण पारगामी विद्वन्मूर्धन्य मनीषी डॉ० कविराजजी का नाम ही है। यही नहीं कि डॉ० कविराजजी भारतीय विद्या के अद्वितीय व्यक्तित्व थे, प्रत्युत तन्त्र-साधना और सैद्धान्तिक ज्ञान के अगाध पारावार भी थे। अतः यह लघुकाय ग्रन्थ एवं इस प्रकार के दूसरे ग्रन्थ भी मूल तन्त्रशास्त्रों के समान परमग्राह्य प्रमाणभूत शास्त्र हैं। इससे अधिक कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही होगा। पाठक एवं जिज्ञासु साधक इस लघुकाय ग्रन्थ से तन्त्र के सम्दर्भ में तान्त्रिक आगमशास्त्रों का आन्तर-बाह्य ज्ञान प्राथमिक ज्ञान के रूप में उपलब्ध कर सकेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। तान्त्रिक आगमों का यह समन्वित ज्ञान पूर्ण है, इसमें कहीं एकांगिता अथवा अपूर्णता नहीं है। इस विशेषता के कारण ही इस ग्रन्थ की अपनी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता सिद्ध होती है।

जिज्ञासु साधक एवं तान्त्रिक वाङ्मय के अनुसन्धित्सु स्वाध्यायी इसे अपनाकर अपना ज्ञानवर्द्धन करेंगे, इस आस्था और विश्वास के साथ हम इसे आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। और, आपकी सौहार्दपूर्ण स्वीकृति की प्रत्याशा में हम अपने प्रयास को अवन्ध्य समझकर परम आनन्द का अनुभव करते हैं तथा अपनी कृतार्थता मानते हैं।

हंसकुमार तिवारी
निदेशक

विजयादशमी, सं० २०३४ वि०

विषय-सूची

भूमिका .... क-ख

१. तत्त्व .... १—४०

शिवशक्ति-बिन्दु
पशु या जीव का स्वरूप
अधिकारी-वर्ग
पाश
शिव का साक्षात् कर्तृत्व और प्रयोजक कर्तृत्व
वैखरी आदि चतुर्विध शब्दवृत्ति
बिन्दु का त्रिविध प्रसरण
शिव की समवायिनी शक्ति और त्रिविध अवस्था
पञ्चकृत्य और दीक्षातत्त्व
दीक्षा का प्रकार-भेद
अद्वैत शाक्त-सिद्धान्त

२. सम्प्रदाय .... ४१—५६

कुलमार्ग या कौल-सम्प्रदाय
कापालिक मत या सोम्यमत

३. साहित्य .... ५७—७२

दश शिवागम
अष्टादश रुद्रागम
चौंसठ भैरवागम
चौंसठ तन्त्र (कुलमार्ग)
शुद्धागम-पञ्चक (समयमार्ग)
नवयुग के चौंसठ तन्त्र

भूमिका

तन्त्र और आगमशास्त्रों के दिग्दर्शन के रूप में इस छोटी-सी पुस्तक में मैंने तत्त्व, सम्प्रदाय और साहित्य की दृष्टि से दो-चार बातें कहने की कोशिश की है। इसमें केवल शैवागम की द्वैत-दृष्टि से संक्षेप में तत्त्वांश की आलोचना हुई है। तत्त्वालोचना के अन्तिम भाग में प्रसंगतः शाक्तागम के सम्बन्ध में दो-एक बात जो कही गई है, उसे छोड़ दें तो इसमें शाक्तागम एवं अद्वैत-दृष्टि की कोई बात ही नहीं कही गई है। शैव और शाक्तागम का प्रस्थान भिन्न होते हुए भी बहुत हद तक अभिन्न है और दोनों में गहरा आन्तरिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। शाक्तागम की बहुतेरी विशिष्ट धाराएँ हैं; अद्वैत-शैवागम में भी धारागत वैचित्र्य है। इस सम्बन्ध में भी कोई परिचय देने का अवकाश यहाँ नहीं मिला। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध और जैन-आगम हैं और वैष्णव-आगम भी है। वे भी अलग-अलग प्रस्थान हैं तथा उनकी भी चर्चा आवश्यक है, लेकिन उनका क्षेत्र अलग है। विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में भी सारी बातें कहने का अवसर यहाँ नहीं है।

तान्त्रिक साहित्य के आकर-ग्रन्थों का पता दो उपायों से मिलता है—पहला, प्राचीन साहित्य में परम्परागत रूप से प्राप्त द्वैत-अद्वैतादि आगमों की विभिन्न सूचियों से, और दूसरा, नये युग की मान्य ग्रन्थ-सूची से। पुरानी सूची में यद्यपि जगह-जगह मतभेद दिखाई देता है, फिर भी उसकी प्रामाणिकता और प्राचीनता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत नवीन ग्रन्थ-सूची भी बिलकुल अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होती। प्रस्तुत पुस्तक में दोनों ही ग्रन्थ-सूचियाँ दी गई हैं, परन्तु इतना ही मूल आगम-ग्रन्थों का पूर्ण परिचय नहीं है; क्योंकि प्रामाणिक साहित्य में ऐसे बहुसंख्यक आकर-ग्रन्थों के नाम (और वाचनादि) मिलते हैं, जो पूर्वोक्त किसी भी सूची में संगृहीत नहीं हैं। दार्शनिक दृष्टि से एवं शाक्त-विज्ञान के क्रम-विकास की दृष्टि से इन ग्रन्थों का मूल्य कम नहीं है, बल्कि किसी-किसी क्षेत्र में बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त बहुतेरे मूल आगमों के नाम पूर्वोक्त सूची में नहीं पाने पर भी विभिन्न प्राचीन तान्त्रिक ग्रन्थों में हम प्रामाणिक तौर पर ही पाते हैं। इस छोटी-सी पुस्तक में उन मूल ग्रन्थों का कोई परिचय देने का मौका नहीं मिला। इसके अतिरिक्त प्रकरण-ग्रन्थ भी बहुत हैं। उपासना-भेद से, सम्प्रदाय-भेद से तथा भावों की धारागत अभिव्यक्ति के भेद से विभिन्न युगों में बहुत-से मूल्यवान् ग्रन्थ रचे गये हैं। तान्त्रिक साहित्य के विवरण में उनका संक्षिप्त परिचय रहना जरूरी है, लेकिन यहाँ वह भी सम्भव नहीं हुआ।

सबसे बड़ी बात है तान्त्रिक साधना के रहस्य की आलोचना। इस दिग्-दर्शनात्मक परिचय-ग्रन्थ की सीमा से बाहर नहीं होने के बावजूद फिलहाल उसे छोड़ दिया गया है। साधारणतया विभिन्न सम्प्रदायों में जितने प्रकार की साधनाएँ प्रचलित हैं, उनमें से अधिकांश ही आणव उपाय के ही किसी-न-किसी अंश के सहारे प्रवर्त्तित हुई हैं। जो भी हो, देहगत हो या योग-प्रक्रिया की अवान्तर भेदमूलक हो, प्रचलित प्रायः सभी साधनाएँ आणव हैं। लेकिन प्राचीन काल में शाक्त उपाय की ओर से भी साधना की धारा प्रचलित थी और आज भी कहीं-कहीं है। वास्तव में यह पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ उपाय है। क्रम-विज्ञान की सारी ही धाराएँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीनकाल में, विशेषतया मध्ययुग में, अत्यन्त मूल्यवान् साहित्य था। उसमें से अधिकांश लुप्त हो चुका है, थोड़ा-बहुत अभी भी गुप्त रूप से बाकी है। शाक्त-साधना के महत्त्व की चर्चा का यदि कभी समय आयगा तो ये क्रममार्ग-प्रदर्शक साहित्य ही उस साधना की विशिष्टता का निर्देश करेंगे। और फिर शाम्भव उपाय की साधना भी है। यह वास्तव में साधना नहीं होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से अवश्य ही साधना-पदवाच्य है। इसका भी प्रतिपादन प्राचीन साहित्य में है।

कहना तो बहुत है, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक सिर्फ इस विशाल साहित्य की ओर गवेषकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए है। भारतीय संस्कृति का पूर्ण परिचय पाने के लिए एक ओर जैसे वैदिक साधन-रहस्य का भेदन करना जरूरी है, दूसरी ओर, वैसे ही निगूढ़ तान्त्रिक रहस्य-साधन के द्वार का उद्घाटन करना भी आवश्यक है। कोई भी उपेक्षा करने योग्य नहीं है। आलोचना की विभिन्न दिशाएँ हैं; रुचि, प्रयोजन और अधिकार-भेद से सभी ओर से आलोचना की सार्थकता है।

संस्कृत कॉलेज के सुयोग्य अध्यक्ष डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने पुस्तक के प्रकाशन की सारी जिम्मेवारी लेकर और स्नेहभाजन डॉ० गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय ने कुशलता से पाण्डुलिपि को प्रस्तुत करके मुझे कृतज्ञता पाश में आबद्ध किया है।

—गोपीनाथ कविराज

तत्त्व

[एक]

हमारा आलोच्य विषय है तान्त्रिक दर्शन। यह आलोचना यद्यपि बहुत ओर से सम्भव है, फिर भी लगता है, मूल आगम और प्रकरण-ग्रन्थ आदि का अवलम्बन करके आलोचना करने से आलोच्य सिद्धान्त का स्पष्टीकरण ज्यादा होगा। आपाततः द्वैत शैवागम की भित्ति पर मूल तत्त्वों की संक्षिप्त आलोचना की जा रही है। कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, मृगेन्द्र आदि आगम एवं अघोरशिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ आदि शिवाचार्यों के प्रकरण-ग्रन्थों में इस द्वैत-सिद्धान्त का विशेष वर्णन देखने में आता है। इस मत से एक दृष्टि से मूल सत्ता तीन कही जा सकती है। आचार्यगण इन तीनों को **त्रितत्त्व** के नाम से अभिहित करते हैं। ये तीनों **शिव, शक्ति** और **बिन्दु**—इन तीन नामों से अभिहित होते हैं। इनमें से **शिव** अधिष्ठाता और शक्तिमान् हैं। शक्ति और बिन्दु, दोनों ही शिव के द्वारा अधिष्ठित तथा शिव में आश्रित हैं। आगम की परिभाषा के अनुसार गरचे बिन्दु को शक्ति नहीं कहा जाता, मगर दृष्टिभेद से इसे भी शक्ति कहा जा सकता है और कहा भी जाता है। उसके मुताबिक शक्ति चित्-शक्ति तथा बिन्दु परिग्रह-शक्ति का नामान्तर है। शक्ति अथवा चित्-शक्ति समवायिनी है। यह शिव-स्वरूप में समवेत रहती है। न्याय-वैशेषिक मत से गुण और कर्म जैसे द्रव्य में समवेत रहते हैं, वैसे ही इस दृष्टि से शक्ति भी शिव में समवेत रहती है। शिव चित्-स्वरूप हैं, शक्ति भी चित्-स्वरूप हैं—दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। परन्तु बिन्दु शिव-स्वरूप में समवेत नहीं रहता, लेकिन समवेत नहीं रहते हुए भी आश्रित रहता है। और चूँकि आश्रित रहता है, इसलिए बहुतेरे लोग इसे भी शक्ति के नाम से अभिहित करते हैं। साधारणतया आगम की दृष्टि के अनुसार शक्ति चित्-रूप में ही कल्पित होती है। इसीलिए कोई-कोई अचित्-रूप बिन्दु में शक्ति की संज्ञा का प्रयोग नहीं करना चाहते।

शिव परमेश्वर हैं, परन्तु शक्तिहीन शिव शवमात्र हैं। लेकिन शिव वास्तव में कभी शक्तिहीन नहीं होते। **शिव से शक्ति का सम्बन्ध साक्षात रूप से और बिन्दु का सम्बन्ध आश्रय-आश्रित दृष्टि से** साक्षात् रूप से होते हुए भी क्रिया की ओर से

शक्ति की मध्यस्थता से होता है। यह शक्ति ही अवस्था-भेद से इच्छा, ज्ञान या क्रियारूप में आत्म-प्रकाश करती है। फलस्वरूप क्रिया की ओर से यह एक ही शक्ति अवस्था-भेद से निष्क्रिय या सक्रिय रूप में व्यपदिष्ट होती है : विचार-दृष्टि से शक्ति कभी निष्क्रिय और कभी सक्रिय होती है। शक्ति जब सक्रिय अर्थात् क्रियारूप होती है, तब बिन्दु क्षुब्ध होता है। और, शक्ति जब निष्क्रिय होती है, बिन्दु भी अक्षुब्ध होता है। **बिन्दु सृष्टि का उपादान-स्वरूप** और **शक्ति** अर्थात् क्रियारूपा शक्ति **शक्ति-निमित्त** स्वरूप है। शक्ति कभी निष्क्रिय और कभी क्रियात्मिका होती है, यह कहा जा चुका है। इसका मूल है इच्छा—यानी इच्छारूप या स्वातन्त्र्यमयी शक्ति ही शक्ति के क्रियात्मक होने का मूल कारण है और शक्ति का क्रियात्मक भाव ही बिन्दु के क्षुब्ध होने का मूल कारण है। अतएव मूलतः सृष्टि का आदिहेतु इच्छा की बहिर्मुखता है। इच्छा जब अन्तर्मुख होती है तब क्रिया का उन्मेष नहीं होता और क्रिया का उन्मेष हुए बिना बिन्दुक्षोभ भी नहीं होता। लिहाजा परमेश्वर या शिव जब इच्छाहीन होते हैं, तो चूँकि शक्ति क्रिया-रूप में नहीं रहती, इसलिए नहीं रहने के ही बराबर है और बिन्दु के मौजूद रहते हुए भी, शक्ति की निष्क्रियता के कारण, क्षुब्ध नहीं होने से नहीं रहने के ही समान है। इस स्थिति में वास्तव में शिव, शक्ति, बिन्दु—तीनों के मौजूद रहते हुए भी शक्ति तथा बिन्दु की सत्ता का भान नहीं रहता और इसीलिए प्रकाशात्मक होते हुए भी **शिव** अप्रकाशवत्, अद्वयवत् विद्यमान रहते हैं।

इच्छा के उन्मेष से क्रियाशक्ति का उदय होता है, उससे बिन्दु क्षुब्ध होता है और तब सृष्टि की सूचना होती है। यह जो बिन्दु की बात कही गई, वह चित्-रूप नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है। क्योंकि चित्-रूप शक्ति जगत् का उपादान नहीं हो सकती। बिन्दु अचित्-रूप है, किन्तु अचित् होते हुए भी यह शुद्ध है, अशुद्ध नहीं। इस बिन्दु से जिस सृष्टि का विकास होता है, उसका नाम शुद्ध सृष्टि है। यही शुद्ध अध्वा के नाम से परिचित है। **बिन्दु** का दूसरा नाम है **महामाया**। **कुण्डलिनी, चिदाकाश** आदि इसी को कहते हैं। अशुद्ध सृष्टि इसका परिणाम नहीं, **अशुद्ध सृष्टि माया का परिणाम** है। द्वैत आगम के मत से माया और महामाया एक ही उपादान के शुद्ध और अशुद्ध दो दिक् हैं, लेकिन इसके बावजूद दोनों का क्षोभ पृथक्-पृथक् रूप से होता है। इस विषय में अवश्य नाना प्रकार की दृष्टिभंगी है—इस प्रसंग में उन सबकी विस्तार से आलोचना करने की जरूरत नहीं है। शुद्ध सृष्टि नहीं होने से अशुद्ध सृष्टि नहीं हो सकती। **शुद्ध सृष्टि महामाया से उद्भूत** होती है। परमेश्वर की इच्छा से चित्-शक्ति सक्रिय होकर जब महामाया को क्षुब्ध करती है, तो महामाया से सृष्टि का निर्गम होता है। यह सृष्टि **शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर** और **शुद्ध विद्या**-रूप में पञ्चधा

विभक्त होती है। यही शुद्ध पञ्चतत्त्व हैं। अशुद्ध सृष्टि महामाया के क्षोभ से नहीं, माया के क्षोभ से होती है। महामाया के क्षोभ का मूल है शिव की दृष्टि, लेकिन निर्मल और निर्विकल्प होने के नाते यह दृष्टि माया को स्पर्श नहीं करती। निर्विकल्पक ज्ञान के बदले सविकल्पक ज्ञान का उदय हुए बिना माया-क्षोभ की सम्भावना नहीं। नित्य सिद्ध आत्मा या शिव विकल्पशून्य हैं। जिसे चित्-शक्ति कहा गया, वही उनकी इच्छा, वही उनका ज्ञान, वही उनकी क्रिया है। उसमें विकल्प का बिलकुल संस्पर्श नहीं।

संस्पर्श क्यों नहीं है? क्योंकि विकल्प शब्दमूलक है। ज्ञान में शब्द का अनुगम नहीं रहने से ज्ञान सविकल्पक नहीं हो सकता। पहले जिस ज्ञान का उदय होता है, जिस कारण से भी क्यों न हो, वह शुद्ध और विकल्पशून्य होता है। उसके बाद शब्द की क्रिया के संस्पर्श से और साथ-ही-साथ मन का संस्पर्श पाकर वह विकल्पयुक्त होता है। परमेश्वर के ज्ञान में इस प्रकार के विकल्प के उदय की सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि बिन्दु के क्षुब्ध नहीं होने से परावाक् प्रभृति क्रम का आश्रय लेकर शब्द की धारा आविर्भूत नहीं हो सकती। इसलिए प्राथमिक सृष्टि माया की ऊर्ध्व-स्थित निर्मल सृष्टि का ही नामान्तर है। जिस पञ्चतत्त्व का आविर्भाव परम बिन्दु के क्षोभ के परिणामस्वरूप होता है, वह शुद्ध सृष्टि की भित्ति है। किन्तु इन तत्त्वों का अधिष्ठान करके अवस्थान करें, ऐसे सब सत्त्व कहाँ? क्योंकि महामाया के क्षुब्ध होने से शुद्ध तत्त्व का विकास होने पर भी उन तत्त्वों को आश्रय करके बैठने योग्य सत्त्व मौजूद नहीं होते। यह है महामाया के क्षोभ के बाद खुला पहला अध्याय—अर्थात् घर तैयार हो गया, पर उस घर में बसनेवाला अभी नहीं आया, कुछ ऐसी अवस्था। प्रलय-अवस्था में, जब महामाया एवं माया—दोनों ही सुप्त रहती हैं, तब सारा जगत् 'प्रसुप्तामिव सर्वतः' भाव धारण करता है। महामाया के क्षोभ के बाद माया के ऊपर की ओर एवं उसके बाद माया के भीतर भी सृष्टिभंग का सूत्रपात होता है। प्रलयकाल में असंख्य जीव महामाया में भी सुप्त थे, माया में भी थे, और ठीक-ठीक देखना आता हो, तो देखा जा सकता है कि प्रकृति में भी थे। भगवान् की क्रियाशक्ति के स्पर्श से जब सुप्त महामाया स्पन्दित होना शुरू करती है, तो उसके उदर-स्थित सारे लीन चिदणु जाग उठते हैं। सभी जाग उठते हैं, ऐसा नहीं। जिनका मल यथोचित मात्रा में परिपक्व हो चुका होता है, वही जगते हैं। बाकी सब महामाया के गहरे अतल में मूढ़-से सुप्त रहते हैं। क्रमशः आगामी कल्प में या उसके भी बाद के कल्प में उनके जागने की सम्भावना रहती है। इस जागरण का नियामक है मल का पाक। वर्त्तमान प्रसंग में केवल मलपाक-रूप दृष्टिकोण से ही विचार किया जा रहा है। माया के भीतर या प्रकृति के भीतर जो सारे चिदणु सुप्त हैं, उनका जागरण उस समय तक नहीं हुआ

होता है, इसलिए कि उस समय तक माया का क्षोभ नहीं हुआ है, प्रकृति के क्षोभ की बात तो दूर रही। यह जो चिदणु के जागरण की बात कही गई, ये चिदणु ही जाग्रत् होने पर भविष्य में अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार शुद्ध जगत् में तमाम बिखर जायेंगे। जो चिदणु महामाया के क्षोभ के कारण प्रबुद्ध होते हैं, उनमें से सबके मलपाक की मात्रा एक-जैसी नहीं होती, परन्तु कम हो या ज्यादा, यथोचित पाक होने पर भगवान् की अनुग्रह-शक्ति उनपर संचारित होती है। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति भगवत्-स्वरूप से निरन्तर सूर्य की किरणों की तरह निकलती रहती है। लेकिन यथोचित मल-पाक नहीं होने के कारण अणु महामाया में मग्न हैं, इसलिए महामाया से ऊपर नहीं उठ सकने के कारण शक्तिपात-रूप किरण-स्पर्श को नहीं पाते हैं। उद्बुद्ध अणु अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अनुग्रह की मात्रा प्राप्त करते हैं।

शक्तिपात की मात्रा अधिक होने से संचारित शक्ति में क्रियाशक्ति का अंश अधिक रहता है। प्राप्त अनुग्रह-शक्ति में, यानी शुद्ध विद्या में, ज्ञान और क्रिया, दोनों ही होते हैं। ज्ञान क्रियाहीन नहीं, क्रिया भी ज्ञानहीन नहीं—इसे याद रखना होगा। ज्ञान निरंश और अक्रम है, पर क्रिया में चूँकि अंश है, इसलिए क्रम भी है। परन्तु पूर्ण होने के बावजूद क्रिया की मात्रा पूर्ण नहीं होने तक ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होता। बहुत ही निम्नस्तर की संचारित शक्ति में भी ज्ञान पूर्ण ही रहता है, लेकिन अभिव्यक्त क्रिया-शक्ति की मात्रा कम होने के कारण ज्ञान की पूर्णता प्रकट नहीं हो पाती। अतएव शुद्धविद्या के स्तर में और ईश्वर के स्तर में ज्ञान के सम्पर्क में किसी प्रकार की वास्तविक विलक्षणता के नहीं होते हुए भी क्रिया के सम्बन्ध में पार्थक्य होता है, जिसके परिणामस्वरूप शुद्धविद्या में जो सब जाग्रत् सत्त्व अधिष्ठित होते हैं, उनमें क्रियाशक्ति की न्यूनता के कारण वे करण-रूप में स्थिति-लाभ करते हैं। वैसे ईश्वर-तत्त्व में उन्हीं जाग्रत् सत्त्वों का सम्बन्ध होता है, जिनमें संचारित अनुग्रह-शक्ति में क्रिया के अंश की अधिकता होती है। इसलिए ऐसे सत्त्व करणरूप न होकर कर्त्तारूप होते हैं। करण अथवा कर्ण, यह जो दो रूपों की बात कही गई, इसे परमेश्वर कर्तृक-बद्ध जीव के उद्धार-व्यापार का करण और कर्त्ता समझना होगा। जो कर्त्ता हैं, उनका नाम होता है मन्त्रेश्वर, और जो करण हैं, उनका नाम है मन्त्र अथवा विद्या। मन्त्रेश्वर गुरुपदवाच्य हैं; जीवों के उद्धार में ये गुरु का कार्य करते हैं। मन्त्रेश्वररूपी गुरु जिस करण के द्वारा जीवों का उद्धार का कार्य सम्पन्न करते हैं, उसी को मन्त्र कहते हैं। कहना बाहुल्य है कि मन्त्र और मन्त्रेश्वर, दोनों ही माया-उत्तीर्ण चिदणु से ही आविर्भूत होते हैं। संख्या में मन्त्रेश्वर आठ हैं और मन्त्र हैं सात करोड़। इन सात करोड़ में आधे शुद्ध जगत् में और आधे मायाजगत् में अवस्थित होते हैं। आठ मन्त्रेश्वरों में जो सबसे प्रधान हैं, उन्हें अनन्त नाम से

अभिहित किया जाता है और जो अन्तिम हैं, यानी आठवें, उनका नाम है **शिखण्डी**। कहना नहीं होगा कि ये नाम पद के ही हैं, व्यक्तिविशेष के नहीं। प्रत्येक ऊँचा पद ज्ञान-क्रियात्मक शक्ति में नीचे के पदों से उत्तम है। अतएव इन आठ मन्त्रेश्वरों में अनन्त ही प्रधान हैं। इन्हीं को साधारणतया ईश्वर कहा जाता है। अनन्त माया के अधिष्ठाता हैं। अनन्त की शक्ति से क्षुब्ध होकर माया कला से लेकर पृथ्वी तक उन तत्त्वों का **प्रसव** करती है, जिनसे सम्पूर्ण मायिक जगत् का आविर्भाव होता है। अतएव **अनन्त ईश्वर** अथवा माया-अधिष्ठाता एवं **शिव परमेश्वर** अर्थात् बिन्दु के अधिष्ठाता। ऐसा नियम है कि किसी समय मन्त्रेश्वर का पद खाली रहने से मन्त्र से मलपाक की मात्रा के अनुसार उच्चाधिकारी को मन्त्रेश्वर के पद पर नियुक्त किया जाता है, यानी किन्हीं मन्त्रेश्वर का पद खाली होने पर नीचे के मन्त्रेश्वर द्वारा उस स्थान को भरा जाता है और अन्तिम मन्त्रेश्वर का पद इस प्रकार से रिक्त होने पर मन्त्रों में से यथोचित योग्यता-सम्पन्न मन्त्र को मन्त्रेश्वर का पद दिया जाता है। शुद्ध अध्वा में सर्वत्र यही नियम समझना चाहिए।

हम कह आये हैं, शिव की शक्ति, जो निर्विकल्पक है, उससे माया का क्षोभ नहीं होता। माया चूँकि अशुद्ध है, इसलिए क्षोभक रूप में सविकल्पक ज्ञानात्मक शक्ति आवश्यक होती है। ईश्वर का ज्ञान सविकल्पक है, निर्विकल्पक नहीं। केवल ईश्वर ही नहीं, शुद्ध अध्वा के सारे ही अधिकारियों का ज्ञान सविकल्पक है, निर्विकल्पक नहीं। निर्विकल्पक ज्ञान वहाँ नहीं है या नहीं रह सकता है, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि विकल्प की पृष्ठभूमि में निर्विकल्पक ज्ञान रहता ही है। लेकिन वह क्षोभ का निमित्त नहीं होता। शुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान बिन्दु के क्षोभजन्य शब्द से अनुविद्ध होकर सविकल्पक रूप में परिणत होता है। अद्वैत दृष्टि से विकल्प भी शुद्ध और अशुद्ध—दो प्रकार का है। परन्तु यह चर्चा बाद में की जायगी।

शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव आदि प्रत्येक तत्त्व में ही भुवन है और इन तत्त्वों को उपादान-रूप में ग्रहण करके जो कार्य उद्भूत होते हैं, उनकी तीन श्रेणियाँ या विभाग हैं। एक **देह**, दूसरा **इन्द्रिय** और तीसरा **भोग्य विषय**। शुद्ध प्रमाता उन देहों को आश्रय करके **प्रमाता**-रूप में काम करता है। इन्द्रियाँ उनके करण अर्थात् **प्रमाण** और विषय उनके भोग्य अर्थात् **प्रमेय** हैं। ये देह **भुवनज देह** के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसा ही विभाग मायिक तत्त्वों के बारे में भी जानना चाहिए। भुवनज देह के बाद **तत्त्व देह** है। तत्त्व-देह भुवनज देह को धारण करती है और उसके त्याग के बाद उसी भुवन में या लोकान्तर में भुवनज देह धारण करती है। भुवनज देह के बिना भोगादि की निष्पत्ति नहीं हो सकती। विशुद्ध भोग यद्यपि मायिक जगत् के भोगायतन-रूप स्थूल देह में ही होता है; क्योंकि पाप-पुण्यरूप कर्म मायिक जगत् में ही सम्भव है, तथापि यह भी

सत्य है कि विशुद्ध मायाजगत् में भी तदनुरूप कर्म तथा तदनुरूप भोग भी हैं। अधिकार और लय की भाँति विशुद्ध भोग भी शुद्ध मायाजगत् का व्यापार है।

शुद्ध मायाजगत् का मूल उपादान है बिन्दु और अशुद्ध मायाजगत् का मूल उपादान है माया। भगवत्-कृपाशक्ति के प्रभाव से बिन्दु में क्षोभ उत्पन्न होता है, यह हम कह चुके हैं। क्रियाशक्ति की मात्रा के तारतम्य के अनुसार **क्षोभ की यह अवस्था तीन प्रकार** की है। उसके मुताबिक एक अवस्था को कहते हैं **क्षुब्ध**। दूसरी एक अवस्था में क्षोभ अपेक्षाकृत मृदु होता है, इसलिए उसे कहते है **क्षोभोन्मुख** तथा और एक अवस्था में सक्रिय रूप में क्षोभ एक प्रकार से नहीं है, कहा जा सकता है; फिर भी उसमें क्षोभ का स्पर्श है। इसलिए यह अवस्था यद्यपि **अक्षुब्ध** नाम से परिचित है, तथापि वह क्षोभ स्पर्शविहीन नहीं है। आत्मा पहली अवस्था में बिन्दु के अन्तर्गत होती है। यह बिन्दु क्षुब्ध है और आत्मा की अवस्था **अधिकार** के नाम से प्रसिद्ध है, यानी यह आत्मा **अधिकारी** आत्मा है। यह आत्मा **ईश्वर**-पद में आरूढ़ है। इसे साधारणतः **अधिकार-अवसर** कहते है। दूसरी अवस्था में बिन्दु चूँकि क्षोभोन्मुख होता है, इसलिए आत्मा में अधिकार-सम्पत्ति नहीं होती और ऐश्वर्य की क्रिया भी नहीं रहती है। ये आत्माएँ अधिकारी नहीं, किन्तु भोगी है। यह भोग आत्मानन्द सम्भोग के सिवाय और कुछ नहीं। ये ऐश्वर्य-सम्पन्न अधिकारी आत्माओं से ऊपर अवस्थित होती हैं। ये सर्वदा आनन्द-सम्भोग में मग्न रहती हैं। बिन्दु की क्षोभोन्मुख अवस्था से ही आनन्द का उद्भव होता है। इनसे भी ऊपर जो आत्माएँ है, वे ऐश्वरिक या आधिकारिक आत्माओं से एवं स्वरूपानन्द सम्भोगशील आत्माओं से भी ऊपर अवस्थित हैं। इस अवस्था को **लय** कहते हैं। बहुतेरे लोग इसे निर्वाण समझते हैं, पर वास्तव में यह निर्वाण नहीं है। सिर्फ निर्वाण नहीं है, इतना ही नहीं, यह आत्मा की स्वरूप-स्थिति भी नहीं। इस अवस्था में शिवत्व यद्यपि एक प्रकार से अनावृत रूप में ही प्रकाशित होता है, तथापि यहाँ भी थोड़ा आवरण है। यह आवरण और कुछ नहीं, बिन्दु का सम्बन्ध या स्पर्श है। क्योंकि, इस अवस्था में बिन्दु क्षुब्ध या क्षोभोन्मुख नहीं होते हुए भी रहता है। बिन्दु अचित् है, यह पहले कहा जा चुका है। लिहाजा यह जितना ही शुद्ध क्यों न हो, आत्मा जबतक इसके स्पर्श से मुक्त नहीं होती, तबतक उस अवस्था को यथार्थ शिवत्व नहीं कहा जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है, यह लयस्थिति या तथाकथित निर्वाण और विज्ञान-कैवल्य, इन दोनों में पार्थक्य क्या है? आपात दृष्टि से ये दोनों ही स्थितियाँ एक ही लगती हैं। लयस्थिति वास्तव में बिन्दु-स्थिति है। यही आत्मा का शिवतत्त्व-रूप में अवस्थान है। शिवतत्त्व होते हुए भी यह तत्त्वातीत शिव नहीं है। फलस्वरूप इस अवस्था को भी आत्मा की स्वरूप-प्राप्ति नहीं कहा जा सकता। इस अवस्था में बिन्दु

क्षुब्ध नहीं, यहाँ तक कि क्षोभोन्मुख भी नहीं, लेकिन फिर भी विन्दु-सम्बन्ध है। इसे पार करने के साथ-ही-साथ तत्त्वातीत नित्यमुक्त शिवस्वरूप अधिगत होता है। यह अवस्था चित्-शक्ति प्राप्त होने के बाद उसकी क्रमिक अभिव्यक्ति के फलस्वरूप प्राप्त होती है। विज्ञान-कैवल्य में अचित्-सम्बन्ध कट जाता है, यह सही है; लेकिन चित्-शक्ति की प्राप्ति से क्रमशः शिवत्व की अभिमुखता आती है। विज्ञान-कैवल्य के चरमोत्कर्ष से अचित्-सत्ता का क्रमिक बहिष्कार होता है, जिसके फलस्वरूप विशुद्ध विज्ञान-कैवल्य अवस्था में अचित्-सत्ता अर्थात् विशुद्ध अचित्-सत्ता भी बिलकुल नहीं रहती। लेकिन स्मरण रखना होगा कि लय-अवस्था के बाद जिस शिवभाव का उदय होता है, वहाँ भी आचित्-सत्ता का सम्बन्ध नहीं रहता, यहाँ तक कि विशुद्ध अचित्-सत्ता का भी नहीं। कैवल्य के पथ में प्रथमतः अशुद्ध अचित्-सत्ता से पृथक् रूप में संघटित होने पर भी विशुद्ध अचित्-सत्ता का सम्बन्ध रहता है, अवश्य सबसे अन्त में वह भी नहीं रहता। शुद्ध अध्वा में विशुद्ध अचित्-सत्ता का सम्बन्ध रहने पर भी चित्-शक्ति की कार्यकारिता के कारण वह क्रमशः दूर हो जाता है। चित्-शक्ति का उन्मेष चूँकि विन्दु को आश्रय करके होता है, इसलिए शुरू-शुरू में विन्दु का संश्रव रहता है, फिर भी अन्त में विशुद्ध चित्-शक्ति ही रह जाती है। अपना कार्य सम्पन्न करके विन्दु अत्यन्त क्षीण हो जाता है। वैसे में चित्-शक्ति उसे अतिक्रम करती है। विशुद्ध चित्-शक्ति का प्रकाश विन्दु से मुक्त होने के बाद पूर्णरूप से होता है। उस समय वह शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। यही नित्यमुक्त शिव-अवस्था का उद्भव है। शक्ति क्रियाशील होकर विन्दु को क्रमशः क्षुब्ध करती है और क्षोभ का अवसान होने पर शक्ति फिर निष्क्रिय होकर शान्त-स्वरूप में अवस्थान करती है। यही आत्मा का शिवत्व है। विशुद्धतम कैवल्य में विन्दु का स्पर्श नहीं रहने पर भी ऐसे शिवत्व की अभिव्यक्ति की सम्भावना नहीं है।

[दो]

विन्दु के सम्बन्ध में और-और बातें कहने से पहले पशु-आत्मा के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहना जरूरी है। ये आत्माएँ स्वरूपतः नित्य, विभु, चेतन तथा अन्यान्य शिवधर्माक्रांत होते हुए भी संसार-अवस्था में उन धर्मों के विकास का अनुभव नहीं कर सकतीं। सर्वज्ञान-क्रियारूप शक्ति जैसी शिव की है, वैसी ही जीव या पशुमात्र की है। यही चैतन्य शक्ति है। शिवस्वरूप में यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वकर्तृत्वरूपा शक्ति सर्वदा अनावृत है। पशु में भी यह शक्ति समान रूप से है जरूर, पर पशु की सर्वज्ञान-क्रियाशक्ति अनादि काल से पाश-समूह से अवरुद्ध है। मल, कर्म और माया—इन तीन

प्रकार के पाशों में से कोई आत्मा एक पाश से, कोई दो पाश से और कोई-कोई तीनों पाशों से आबद्ध होती है। पाशों का विशेष वर्णन फिर किया जायगा।

जिन आत्माओं में मल आदि तीनों ही पाशों का बन्धन रहता है, उन्हें **स-कल** आत्मा कहते हैं। जिनके मायिक कलादि प्रलय आदि अवस्था में उपसंहृत हुए हैं, किन्तु मल और कर्म अक्षीण हैं, उनका शास्त्रीय नाम प्रलयाकल है। विज्ञान आदि उपायों के सहारे कर्मक्षय होने से सिर्फ मल नाम का एक पाश रह जाता है। इस अवस्था में आत्मा को विज्ञानाकल कहा जाता है।

अतएव, हमने देखा, पशु या **जीव तीन प्रकार** के हैं :

१. **स-कल**—इनके देह और इन्द्रिय हैं। देह भोगायतन और कर्मजन्य है। प्रारब्ध कर्म के भोग के अन्त में देह का नाश होता है।

२. **प्रलयाकल**—ये प्रलयकाल में देह-सम्बन्ध से विच्छिन्न होते हैं। लिहाजा इनके देह भी नहीं, इन्द्रिय भी नहीं। देह का मूल उपादान और इन्द्रिय का उपादान मूल प्रकृति में लीन है। यह अज्ञान-अवस्था है, सुषुप्तिवत्। सभी जीव प्रलयकाल में प्रलय की अवस्थिति तक इस प्रकार विदेह और विकरण-अवस्था में अज्ञानात्मक मूल प्रकृति में लीन रहते हैं। यही सब प्रलयाकल पशु हैं।

३. **विज्ञानाकल**—ये भी विदेह और विकरण हैं। लेकिन यह अवस्था काल के प्रभाव से यानी सिर्फ प्रलय के कारण नहीं होती। इस अवस्था की प्राप्ति का मूल है विवेकज्ञान। विवेकज्ञान प्राप्त होने पर अर्थात् चिदात्मा जब-जब अपने को अचित् से विविक्त या पृथक् समझती है, तब वह सदा के लिए अचित्-सम्बन्ध से विच्छिन्न होकर अपने चिन्मय स्वरूप में विद्यमान रहती है। इन जीवों को विज्ञानाकल कहते हैं। इनके देह-इन्द्रियादि नहीं हैं और भविष्य में भी नहीं रहेंगे; क्योंकि विवेकज्ञान के द्वारा कर्म-सम्बन्ध और माया-सम्बन्ध छिन्न हो गये हैं।

विज्ञानाकल जीव तीन प्रकार के हैं : (१) प्रकृति से चित् के विविक्त होने से जिस अवस्था का उदय होता है, वही निम्नतम विज्ञान-कैवल्य है। (२) माया से विवेक संघटित होने से मध्यम या दूसरे प्रकार के विज्ञान-कैवल्य का उदय होता है। (३) इसी प्रकार महामाया से विवेक घटने से उच्च स्तर का विज्ञान-कैवल्य-लाभ होता है। जिस प्रकार की भी विज्ञानाकल अवस्था क्यों न हो, उसमें कर्म-माया आदि नहीं होने पर भी आणव मल रहता है। इस आणव मल के अपगत हुए बिना शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। यही पशुत्व है। पशुत्व

या आणव मल की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है परमेश्वर की अनुग्रह-शक्ति का संचार करना और तन्मूलक दीक्षारूप क्रिया। दीक्षा के परिणामस्वरूप अर्थात् शुद्ध विद्या के उदय से शिवत्व-लाभ का मार्ग मिलता है। इस मार्ग में प्रवेश करके क्रम के अवलम्बन से ऊर्ध्वगति-लाभ करना चाहिए। शुद्ध विद्या के उदय से विशुद्ध अहंता की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। माया के आवरण में आवृत जीव जिस अहं से परिचित है, उसका स्वरूप अनात्मा में आत्मबोध-मात्र है, और कुछ नहीं। वास्तव में यह अज्ञान का ही विलास है। अद्वैतागम में अज्ञान का और भी एक रूप है, वह है आत्मा में अनात्मबोध, लेकिन यह बहुत ऊपर की अवस्था है। इन दोनों प्रकार के अज्ञान से मुक्ति पा सकने से आत्मा अपने को शिवरूप में अनुभव करने में समर्थ हो सकती है। वही आत्मा का विशुद्धतम रूप है। वहाँ आत्मा में अनात्मबोध-रूप अज्ञान भी नहीं और अनात्मा में आत्मबोध-रूप अज्ञान भी नहीं।

अद्वैतवादी **बौद्धगण** भी खास करके योगाचारवादी आचार्यगण इस प्रकार के **द्विविध अज्ञान** को स्वीकार कर गये हैं। **एक क्लिष्ट अज्ञान, दूसरा अक्लिष्ट अज्ञान। पुद्गल नैरात्म्य** की उपलब्धि होने से क्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होती है। उसका फल निर्वाण है, बुद्धत्व नहीं। क्लिष्ट अज्ञान के नहीं रहने पर भी अक्लिष्ट अज्ञान उस समय तक रहता है। इसलिए बुद्धत्व नहीं आता। अक्लिष्ट अज्ञान के नहीं रहने से महाकरुणा का अनुशीलन नहीं होता। इसके विपरीत अक्लिष्ट अज्ञान के रहते हुए महाबोधि का उदय नहीं होता और बुद्धत्व की भी प्राप्ति नहीं होती। सारी बोधिसत्त्व-भूमियाँ अक्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति के क्रमनिर्देशक हैं। एक-एक करके उन सारी भूमियों को जीत सकने से अन्त में अक्लिष्ट अज्ञान पूर्णरूप से निवृत्त हो जाता है और बुद्धत्व का आविर्भाव सम्भव होता है। अक्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति का मूल है **धर्मनैरात्म्य**-ज्ञान। जो भी हो, इस अक्लिष्ट अज्ञान और क्लिष्ट अज्ञान की कल्पना मूलतः आगम की ही कल्पना है। बौद्धों ने उसे नैरात्म्यवाद से जोड़ लिया है और शैव-शाक्तों ने उसे परमशिव या पराशक्ति के सामरस्य की ओर से जोड़ लिया है।

जिन तीन प्रकार के पशु या जीवों का जिक्र किया गया, उनमें सभी के आणव मल या आत्मसंकोच है। बाकी दो मल किसी-किसी के हैं, किसी-किसी के नहीं हैं। इसी आणव मल को दूर करने के लिए ही श्रीभगवान् की **अनुग्रह-शक्ति** का संचार आवश्यक होता है। भगवत्-अनुग्रह साक्षात् रूप से भी होता है, और परम्परा से भी होता है। पर, चाहे साक्षात् भाव से हो या किसी माध्यम के सहारे ही हो, दोनों ही स्थिति में धारक की योग्यता जरूरी है। द्वैत दृष्टि से यह योग्यता धारक का साधना-बल नहीं है; क्योंकि व्यक्तिगत साधना का फल पृथक्

निर्दिष्ट है। साधना के फल से पूर्णत्व-लाभ के सिवाय या पूर्णत्व के पथ में गति-लाभ के सिवाय बाकी सारे ही सम्पद् प्राप्त हो सकते हैं। निम्न स्वर्ग की प्राप्ति, ऊर्ध्व स्वर्ग की प्राप्ति, अभावरूपी अपवर्ग या जागतिक दुःख-निवृत्ति तथा भावात्मक अपवर्ग या चित्स्वरूप कैवल्य में स्थिति—सब कुछ सम्भव है, पर पूर्णत्व-लाभ सम्भव नहीं है। उसके लिए **पूर्ण का अनुग्रह** आवश्यक है। यह अनुग्रह संचार या शक्तिपात पूर्णत्व-लाभ की अनिवार्य पहली शर्त (Pre-condition) है।

पूछा जा सकता है, इस **अनुग्रह-प्राप्ति की योग्यता** का स्वरूप क्या है? अवश्य परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की ओर से विचार करने पर **स्वातन्त्र्य** को ही अनुग्रह का मूल कारण कहना होगा। परन्तु परिच्छिन्न दृष्टि से देखने पर मूल में स्वातन्त्र्य के रहते हुए भी द्वैतभाव में विभिन्न प्रकार की कल्पना की गुंजाइश रहती है। उनमें से आगमशास्त्र में, खास करके द्वैतागम में, कर्म-साम्य, संन्यास आदि की अपेक्षा मलपाक की ही आपेक्षिक प्रधानता देखने को मिलती है। मलपाक में तारतम्य रहने से शक्तिपात में तारतम्य होता है। अवश्य यह सत्य है कि स्वातन्त्र्य-दृष्टि से इस शक्तिपात के तारतम्य में मलपाक की अपेक्षा नहीं होती। यहाँ मलपाक की ओर से ही विचार किया जा रहा है। पशुमात्र में ही मल है और सबका मल काल के प्रभाव तथा और-और कारणों से निरन्तर कमोबेश पक्व होता है। परन्तु पाक की जिस मात्रा में शक्तिपात होता है, उस मात्रा तक पाक नहीं होने से वह आत्मा भगवत्-कृपा पाने की अधिकारिणी नहीं होती। उस समय तक नहीं होती, लेकिन कालान्तर में पाक सम्पन्न होने पर अधिकारिणी होती है। यह इस कल्प में भी हो सकता है, कल्पान्तर में भी हो सकता है। प्रलय के बाद समग्र विश्व लीन हो जाता है। उस स्थिति में कार्यमात्र ही परम कारण में अव्यक्त हो जाता है। हाँ, कोई-कोई बीज-सहित अव्यक्त होता है और कहीं-कहीं बीज दग्ध होकर अव्यक्त अवस्था की प्राप्ति होती है। जो चिदणु अभिनव सृष्टि में पुनरावर्त्तन के बीज-सहित प्रलय-निद्रा में मग्न हो जाते हैं, उन्हीं को पहले 'प्रलयाकल' कहा गया है। परन्तु जो चिदणु ज्ञान आदि के द्वारा बीज को दग्ध करके प्रलय में स्थित होते हैं, वे 'विज्ञानाकल' के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रलयाकल जीव विदेह होते हुए भी नई सृष्टि में फिर से देह धारण करते हैं; क्योंकि उनके कर्म-बीज दग्ध नहीं हुए होते। विज्ञानाकल जीव नई सृष्टि में पुनरावर्त्तन नहीं करते, उनकी अवस्था को विज्ञानकैवल्य कहते हैं। वे संसार में आवर्तित जरूर नहीं होते, परन्तु तो भी वे पूर्ण नहीं हैं। आगम उन्हें पूर्ण नहीं कहते, इसलिए कि उन्होंने पूर्णत्व या शिवत्व नहीं प्राप्त किया है। प्राप्त नहीं किया है, इतना ही नहीं, आणव मल रहने के कारण उन्होंने पूर्णत्व के पथ पर पदार्पण भी नहीं किया है।

इन जीवों में **आगामी और अनागामी**—दोनों प्रकार के जीवों के सबकी स्थिति एक ही प्रकार की नहीं होती; क्योंकि आणव मल की परिपक्वता सर्वत्र समान नहीं।

जिनका समुचित मलपाक हुआ होता है, उनपर अवश्यम्भावी रूप से शक्तिपात होता है। यह प्रलयाकल में भी सम्भव है और विज्ञानाकल में भी सम्भव है। भगवान् अभिनव सृष्टि के पहले सृष्टिकारी, सिर्फ सृष्टिकारी नहीं, सृष्टि के संरक्षण और संहारकारी अधिकारी-वर्ग का आयोजन करते हैं। इसी का नाम है शुद्ध अध्वा की सृष्टि। मायिक सृष्टि का आरम्भ अभी भी नहीं हुआ है। मायिक सृष्टि स्वयं परमेश्वर नहीं करते, शुद्ध अध्वा की सृष्टि परमेश्वर स्वयं ही करते हैं। यहाँ द्वैत दृष्टि से कुछेक बातें कह रहे हैं, जिससे समझने में सुविधा होगी। आगम में सृष्टि को शुद्ध और अशुद्ध—इन दो भागों में अथवा शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध—इन तीन भागों में बाँटा जाता है। अशुद्ध सृष्टि या मिश्रसृष्टि माया से होती है। माया के क्षुब्ध होने से अशुद्ध सृष्टि का उदय सम्भव होता है। पर परमेश्वर स्वयं माया को क्षुब्ध नहीं करते। माया से यहाँ अभिप्राय अशुद्ध माया का है। द्वैतमत से परमेश्वर स्वयं शुद्ध माया या महामाया को क्षुब्ध करते हैं। इसी का दूसरा नाम बिन्दु या कुण्डलिनी या चिदाकाश है। महामाया के क्षुब्ध हुए बिना शुद्धजगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। इसीलिए शुद्धजगत् का नामान्तर बैन्दव जगत है। यह ज्योतिर्मय है, इसमें अशुद्ध माया का प्रवेश नहीं। अशुद्ध माया के क्षुब्ध नहीं होने से निम्नवर्ती अशुद्धजगत्, जो कला से पृथ्वी-तत्त्व तक फैला है, सृष्ट नहीं हो सकता। अशुद्ध माया को क्षुब्ध करके कार्य में परिणत करने के लिए क्षोभक जरूरी है। पहले कहा जा चुका है कि जो सारे चिदणु विज्ञानाकल या प्रलयाकल अवस्था में विद्यमान हैं, उनमें से जिनका मल परिपक्व है, उनपर परमेश्वर की अनुग्रह-शक्ति का संचार साक्षात्-भाव से ही होता है।

[तीन]

पहले जिनका जिक्र किया गया है, वे विज्ञानाकल अथवा विज्ञानकेवली आत्माएँ मल के परिपाक के तारतम्य के कारण तीन प्रकार की हैं। वे सब-की-सब मायातीत हैं और सबका ही कर्मफल जाता रहा है, लेकिन चूँकि अधिकारमल कुछ रह गया है, इसलिए अभी भी वे शिव-साम्यरूप पूर्णत्व नहीं प्राप्त कर सकी हैं।

उत्तीर्णमायाम्बुधयो भग्नकर्ममहार्गलाः।
अप्राप्तशिवधामानस्त्रिधा विज्ञानकेवलाः॥

इन तीन प्रकार की विज्ञानाकल आत्माओं के नाम और परिचय हैं—

१. विद्यातत्त्व-निवासी मन्त्र और विद्या—संख्या में ये सात करोड़ हैं—सभी

विद्येश्वर-वर्ग में नियोज्य हैं। इनका वासस्थान या भुवन विद्यातत्त्व में है। स-कलादि पाशबद्ध जीवों के उद्धार के समय विद्येश्वरगण इन मन्त्रों और विद्या नामक विज्ञानाकल आत्मा या देवता को अपने अनुग्रह-कार्य के करण-रूप में व्यवहार करते हैं। विद्येश्वर-गण पञ्चकृत्यकारी हैं, इसलिए उनमें भी अनुग्राहकत्व है। सारे विद्याभुवन एक के बाद एक अवस्थित हैं। देह, भोग, इन्द्रिय आदि का उत्कर्ष ऊर्ध्वस्थ भुवनों में क्रमशः अधिक है।

ज्ञान, योग, संन्यास आदि उपायों के द्वारा अथवा भोग के द्वारा कर्मों के क्षीण होने से उन कर्मों के फलभोग के साधनभूत मायिक सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर का आत्यन्तिक विश्लेष होता है। उस समय आत्मा कैवल्य प्राप्त करके माया से ऊपर शुद्ध विद्यातत्त्व को आश्रय करके अणु-रूप में रहती है। उस समय कर्म और माया के कट जाने पर भी मल बाकी रह जाता है। इस मल के निवृत्त नहीं होने तक आत्मा का पशुत्व मिटकर शिवत्व-लाभ की सम्भावना नहीं रहती। मल के परिपक्व हुए विना उसका अपगम असम्भव है। इसीलिए ऐसी आत्माएँ मायातीत होने के बावजूद, केवली भाव प्राप्त करके भी अपरा-मुक्ति-लाभ नहीं कर सकतीं, परा-मुक्ति तो दूर की बात है।

सृष्टि के आदि में इन अणुओं अथवा आत्माओं में से जिनका मल कम या ज्यादा मात्रा में पक गया होता है, उनपर भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हैं यानी उनके अपने-अपने मलपाक के अनुरूप ज्ञान-क्रिया-शक्ति को उन्मीलित कर देते हैं तथा मन्त्र और मन्त्रेश्वर आदि पद पर शुद्ध अध्वा में भोग एवं अधिकार-कार्य में नियोजित करते हैं। लेकिन इनमें से जो बहुत ही शुद्ध होते हैं, वे एकबारगी परतत्त्व या शिवतत्त्व में नियोजित होते हैं। जिन आत्माओं का यथोचित मलपाक नहीं हुआ होता है, इस कारण जिनका आवरण बहुत गहरा होता है, वे विज्ञानकैवल्य अवस्था में ही वर्त्तमान रहते हैं। इस अवस्था में आत्मा की स्वाभाविक चेतना-रूप सर्वज्ञान-क्रियाशक्ति सोई रहती है, इसलिए कैवल्य-अवस्था में भी पशुत्व मिटकर शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। कर्महीन होने के नाते केवली आत्मा ने जिस प्रकार मायाकार्य या मायिक जगत् को अतिक्रम किया है, दूसरी ओर उसी प्रकार शक्तिपात के अभाव से उसे महामाया या बिन्दु के कार्यस्वरूप विशुद्ध अध्वा जगत् की प्राप्ति अभी नहीं हुई होती है। ये मध्यस्थ हैं। स्वरूपतः आत्मा विभु है, इसलिए केवलियों की यह मध्यस्थता महज औपचारिक है। कैवल्य तन्त्र-सम्मत मुक्ति नहीं है—इसकी चर्चा समय पर की जायगी।

२. ईश्वरतत्त्ववासी विद्येश्वर—संख्या में ये आठ हैं। इनमें से अनन्त ही प्रधान है। इनके आठ भुवन ईश्वरतत्त्व में ही मौजूद हैं। इनमें भी क्रम से गुण की

अधिकता देखी जाती है। जैसे, शिखण्डी से श्रीकण्ठ का गुण अधिक है। उनका भुवन, भोग, देह, कारण आदि भी श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार श्रीकण्ठ से त्रिमूर्त्ति अधिक शक्तिशाली हैं। विद्येश्वरों में अनन्त ही सर्वश्रेष्ठ और परमेश्वर हैं। इनके मल प्रशान्त हैं, केवल अधिकार-मल ही थोड़ा बच रहा है। ये सभी शिव के अनुगृहीत हैं। यह प्रशान्तमलत्व, अधिकार-मल सम्बन्ध और शिवानुगृहीतत्त्व-मन्त्र-वर्ग में भी है। किन्तु विद्येश्वरगण पञ्चकृत्यकारी हैं, इसलिए जीवों के उद्धार के मामले में अनुग्रह के कर्त्ता हैं और मन्त्रवर्ग अनुग्रह के करण हैं—इतना ही अन्तर है। विद्येश्वरों के बारे में रौरवागम में है कि ये

'सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः।
शिवार्ककरसम्पर्क विकासात्मीयशक्तयः॥'

३. सदाशिव तत्त्वस्थ भुवनवासी पशु या संस्कार्य सदाशिव—ये सदाशिव या अधिकार-अवस्थापन्न शिव की नाईं कृत्यकारक तथा सदाशिवतत्त्वाश्रित हैं, इसलिए सदाशिव नाम से परिचित हैं। परमेश्वर के प्रसाद से ये शुद्ध अध्वा के ऊपर अवस्थान करते हैं।

शुद्ध अध्वा में विद्या, ईश्वर और सदाशिव—इन तीन तत्त्वों को आश्रय करके भोक्तृवर्ग-सहित अट्ठारह भुवन हैं। प्रत्येक भुवन में उस भुवन के अधीश्वर भी हैं। इनके सिवाय भी वहाँ असंख्य आत्माएँ बसती हैं। इन आत्माओं में से कोई-कोई उस-उस भुवन के अधिष्ठाता की आराधना द्वारा, या कोई-कोई दीक्षा के प्रभाव से उन भुवनों में स्थान प्राप्त करती हैं। सूक्ष्म स्वायम्भुव आगम में है—

'यो यत्राभिलषेद् भोगान् स तत्रैव नियोजितः।
सिद्धिभाक् मन्त्रसामर्थ्यात्।'

स्वच्छन्दतन्त्र में भी इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा है।

अब प्रलयाकल और स-कल नामक पशु-आत्मा के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ बताकर इस प्रसंग का उपसंहार किया जा रहा है। प्रलयकाल में ईश्वर माया में सभी कार्यों का उपसंहार करके वर्त्तमान रहते हैं, यह प्रसिद्ध है। प्रलय का उद्देश्य है दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहने के कारण थकी हुई आत्माओं को विश्राम देना, उनके कर्मों का परिपाक करना और असंख्य कार्य-परम्परा के प्रसव से अपचित शक्ति माया की शक्ति का उपचय। प्रलय में आत्मा के कला आदि भोग-साधन उपसंहृत होते हैं। उस समय आत्मा मल और कर्माख्य—दो पाशों में बँधकर नई सृष्टि के आरम्भ तक माया में मौजूद रहती है। यही प्रलयाकल या प्रलयकेवली जीव हैं। कर्मक्षय के अभाव में भी ये प्रलय के कारण कलादिहीन होकर एक प्रकार की कैवल्य-दशा में ही

रहते हैं। इनमें से जिनका मल और कर्म परिपक्व होता है, भगवान् तुरत उन्हें परा-मुक्ति प्रदान करते हैं—उस समय अधिकार-दान का अवसर नहीं रहता।

मलपाक और कर्मपाक के सम्बन्ध में जानने के बहुत-सारे तत्त्व हैं। मलपाक ही कर्मपाक है। कर्म विचित्र हैं। इनमें से जो क्रमशः पक्व होते हैं, वे देह-सम्बन्ध होने से भोग के द्वारा क्षीण होते हैं और जो युगपत् पक्व होते हैं, वे भगवान् के अनुग्रह से ही क्षय-प्राप्त होते हैं। उन्हें भोग करके क्षीण नहीं करना पड़ता।

जिन जीवों के मल, कर्म और माया परिपक्व नहीं हुई हैं, प्रलय-काल में वे फिर से सृष्टि होने के आरम्भ तक मूढ़ की भाँति विश्राम करते हैं। बाद में जब वे भोग के योग्य दशा प्राप्त करते हैं, तो परमेश्वर पूर्ववर्णित विद्येश्वर में अपनी शक्ति सन्निवेशित करके उसके द्वारा मायातत्त्व को क्षोभित करते हैं और अशुद्ध अध्वा की सृष्टि करते हैं। इस सृष्टि में वे सब अपक्व-पाश जीव कला आदि सारे भोग-साधन को प्राप्त करके स-कल पशु-रूप में आविर्भूत होते हैं। इनमें त्रिविध पाश ही मौजूद रहते हैं।

इन पशुओं के सिवाय भी और एक प्रकार के स-कल जीव हैं। इनके मल और कर्म का परिपाक होने पर भी ये सृष्टि के आरम्भ में साक्षात् परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करके उन्हीं के द्वारा माया के गर्भस्थ जगत् के अधिकार के लिए अपर-मन्त्रेश्वर पद पर स्थापित होते हैं और अनन्तेश्वर की कृपा से कला आदि से उत्पन्न आतिवाहिक देह ग्रहण करके स-कल नाम से परिचित होते हैं। ये जगत् के व्यापार के सम्पादक माया-गर्भस्थ आधिकारिक-मण्डल हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि आतिवाहिक देह मायिक देह है। इसके पहले शुद्ध अध्वा में माया से ऊपर जिन आधिकारिकों की बात कही गई है, उनकी देह बैन्दव यानी महामाया के उपादान से गठित है। इन सब स-कल आधिकारिकों के भी परमेश्वर का अनुग्रह पाने के समय समुद्भूत बैन्दव देह है, पर वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए भीतर मौजूद रहते हुए भी स-कल पशु का अधिकार या शासन उसके द्वारा नहीं चलता। इसलिए उस बैन्दव देह के अधिकरण-रूप में एक मायिक देह की आवश्यकता होती है। यह मायिक देह और पूर्वोक्त बैन्दव देह अभिन्न-सी ही प्रतीत होती है। बैन्दव देह बोधक है, और आतिवाहिक देह होते हुए भी मायिक देह मोहक है। पर बैन्दव देह के सम्बन्ध के कारण मायिक देह स्वाभाविक मोहकत्व को त्यागकर बोधक-रूप में ही आभासमान होती है। अधिकार्य मन्त्रवर्ग के सम्बन्ध में भी यही नियम है।

ऐसे भी कोई-कोई जीव हैं, जिनका मलपाक नहीं होने पर भी पापकर्म के क्षय और पुण्यकर्म के उत्कर्ष से ऐसा-ऐसा देह-सम्बन्ध होता है कि उसके फलस्वरूप वे भिन्न-भिन्न भुवन में आधिपत्य-लाभ करते हैं। ये सारे भुवन अंगुष्ठ-मात्र से कालानल तक विभिन्न स्तरों में विभक्त हैं।

[चार]

पहले जिन अधिकारी-वर्ग के विषय में वर्णन किया गया है, उनमें से सात करोड़ मन्त्र के अन्तर्गत साढ़े तीन करोड़ परिणतमल मन्त्र आचार्य-देह में अधिष्ठित ईश्वर के अधीन हैं। ये मायिक अध्वा में अपने-अपने अधिकार समाप्त करके उस अध्वा के उपरमकाल में मन्त्रेश्वर-वर्ग के साथ अथवा उनकी अनुज्ञा प्राप्त करके पृथक् रूप से शिव-सायुज्य-लाभ करते हैं। अनुग्राह्य जीव में अनुग्रह का संचार करना ही इनका अधिकार समझना चाहिए। यह जो शिव-सायुज्य है, यह प्रलय-काल में घटित होता है। पूर्वोक्त सात करोड़ मन्त्र का बाकी आधा, यानी साढ़े तीन करोड़ परमेश्वर की इच्छा के अनुसार आचार्य-रूप अविकरण की अपेक्षा किये बिना ही शुद्ध विद्या के नीचे मायीय अध्वा में अपना अधिकार समाप्त करके अण्वर्ग-लाभ करते हैं। इस अवस्था का उदय प्रलयकाल के बजाय महाप्रलयकाल में होता है।

ये सारे मन्त्र पर और अपर मन्त्रेश्वर के द्वारा अभिव्यक्त परमेश्वर की शक्ति से प्रेरित होकर अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कभी किसी पर अनुग्रह करते हैं अर्थात् करण का काम करते हैं।

विद्येश्वरगण परमेश्वर की भाँति पंचकृत्य करने में समर्थ हैं। इसका कारण है कि उनके साथ वामादि नौ शक्तियाँ युक्त हैं। इनकी देह शुद्ध योनि से उद्भूत है और कर्मजन्य नहीं है। जिन्हें मायागर्भाधिकारी कहा गया है, उन्हें अपर मन्त्रेश्वर कहते हैं। उनकी देह कला आदि उपादान से निर्मित होती है। ये मायागर्भाधिकारी संख्या में एक सौ अट्ठारह हैं। ये चार श्रेणियों में बँटे हैं। कलातत्त्व के मस्तक में मण्डली-रूप में आठ हैं, गुणतत्त्व में श्रीकण्ठ नाम से हैं एक, गुण के मस्तक पर ब्रह्माण्ड के धारक-रूप में क्रोधादि रुद्र सौ हैं (पूर्वादि प्रत्येक दिशा में अधिष्ठाता-रूप में दस रुद्र हैं, इसलिए दस दिशा के अधिष्ठाता सौ रुद्र)। सबसे ऊपर हैं शतरुद्र के अधिष्ठाता स्वयं वीरभद्र। अनन्त आदि की देह में अभिव्यक्त

स्वयं परमेश्वर इनकी रचना करते हैं। कला आदि में जो कर्तृत्व है, वह अनन्त आदि का ही है, शिव का नहीं है।

तन्त्र का सिद्धान्त यह है कि मण्डली आदि आठ मायागर्भाधिकारी में अधिष्ठित होकर परमेश्वर ब्रह्मा आदि भुवनेश्वर पर अनुग्रह करते हैं। इन्हीं ब्रह्मा आदि से सारा जगत् उत्पन्न होता है अर्थात् चौदह प्रकार का भूतसर्ग उद्भूत होता है। ब्रह्मादि के कर्मपाश की निवृत्ति नहीं हुई है, ये स-कल अवस्था में ही परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करते हैं। ब्रह्मादि अण्डमध्यस्थ सांजन प्राधानिक मन्त्र हैं। ये पूर्ववर्णित मन्त्रों जैसे निरंजन मन्त्र नहीं हैं। कर्म के अधीन होने के कारण इनका ऐश्वर्य अपनी-अपनी अवधि तक ही है। ये स-कल और भोक्ता होते हुए भी साधारण से विलक्षण हैं। इनको कलादि निर्मित शरीर तथा भोग, दोनों ही अधिकार-निबन्धन हैं। इसके सिवाय इनकी ज्ञान-क्रियाशक्ति का उन्मीलन भी साक्षात् परमेश्वर से ही होता है। पशु के समान ये कला के अधीन नहीं, कला ही इनके अधीन है।

[पाँच]

अब पाश के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जा रही है। आत्मा को जो संसार का अनुभव होता है, उसका एकमात्र कारण पाश से सम्बन्ध है। पाश अचेतन, चेतना-धीन, परिमाणशील और चैतन्य का प्रतिबन्धक है। मल, कर्म और माया, साधारणतया इन तीन प्रकार के पाश का उल्लेख पाया जाता है। इनमें से मल ही प्रधान है। शुद्ध आत्मसंवित्-रूप चित्शक्ति चूँकि मलहीन है, इसलिए वह अपने को तथा दूसरे को भी प्रकट करने में समर्थ है। यह सदा ही अपरिणामी है और शिव से अभिन्न रूप में वर्त्तमान रहती है। आगम की दृष्टि के अनुसार घटपटादि बाह्य पदार्थ का भेद सत्य है, पर तत्-तत् अर्थ के सन्निधान में आत्मसंवित् का जो तत्-तत् आकार का आरोप है वह बौद्धज्ञान से जायमान तत्-तत् आकार के भेदवश होता है। परन्तु बौद्धज्ञान अर्थभेद की सन्निधि से भिन्न होते हुए भी उस ज्ञान का आश्रय-स्वरूप आत्मशक्ति या ग्रहीतृचैतन्य सदा ही एक रूप में भासमान होता है। वह नित्य और निर्विकार है। इस आत्मसंवित् या पौरुषज्ञान से बौद्धज्ञान के अविवेकवश ज्ञान में नानात्व रूपभ्रम का आविर्भाव होता है। इसका मूल कारण है पशुत्व-साधक मल—

सा तु संविदविज्ञाता तैस्तैर्भावैर्विवर्त्तते।
मलोपरुद्धदृक्शक्तेर्नरस्येवोरुराट् पशोः॥

मल की जबतक निवृत्ति नहीं होगी, तबतक पशुत्व नहीं मिटेगा और शिव की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी । द्वैत आगम के-मत से केवल ज्ञान के द्वारा यह मलनाश सम्भव नहीं। इस मत से मल द्रव्यात्मक है, इसलिए चक्षु का पटलादि जैसे अस्त्रचिकित्सक के व्यापार द्वारा निवृत्त होता है, वैसे ही दीक्षारूप परमेश्वर के व्यापार द्वारा ही वह मल निवृत्त होता है। मल की निवृत्ति का और कोई उपाय नहीं है। स्वायम्भुव आगम में है—

दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।

चित् और अचित् का अविवेक मल से उद्भूत है, इसलिए मल की निवृत्ति न होने तक पूर्णविवेक सिद्ध नहीं हो सकता। इस अविवेक के कारण विवर्त का उदय होता है—

स परस्परसम्बन्धद्विवदचिद् गोचरस्तयोः ।
अन्योन्याध्याससाध्यत्वाद् विवेकवृतोदयः ॥
....
सर्वेषामविवेकोऽयमणूनां मलहेतुकः ।
भाति.....॥

मल ही आणव पाश है। आत्मा की नित्य और व्यापक चित्शक्ति यदि अनादि पाश से उपरुद्ध नहीं होती, तो संसार-अवस्था में भोग-निष्पत्ति के लिए कला आदि केद्वारा अपने सामर्थ्य के उत्तेजन की आवश्यकता नहीं होती तथा मोक्ष के लिए भी परमेश्वर की कृपा या बल की अपेक्षा नहीं रहती। मल एक है, मगर उसकी शक्ति अनेक है। एक-एक शक्ति एक-एक आत्मा की चित्-क्रिया को निरुद्ध किये रहती है, लिहाजा मुक्ति के यौगपथ के घटने का प्रसंग नहीं होता। मल-शक्तियाँ अपने रोध और अपसरण के मामले में स्वतन्त्र नहीं, बल्कि भगवत्-शक्ति के अधीन होती हैं।

इसलिए भगवत्-शक्ति भी उपचारवशतः नाना रूप में व्यवहृत होती है। यह शक्ति स्वाधिकार-काल तक चैतन्य की रोधिनी मल-शक्तियों के परिणाम का सम्पादन करके उनके निग्रह-व्यापार का अनुवर्त्तन करती है। उस समय इसका नाम **तिरोधान-शक्ति** होता है। और जब सर्वानुग्रहशील नित्योद्युक्त ईशानाख्य सदाशिव के मस्तक से प्रसूत मोक्ष को प्रकाशित करनेवाली ज्ञान-प्रभा के द्वारा अणु-वर्ग के आशय का उन्मीलन करती है, तो उस शक्ति का नाम होता है **अनुग्राहिका शक्ति**। मल का अधिकार जबतक समाप्त नहीं होता, मुक्ति नहीं हो सकती। मल की यह अधिकार-समाप्ति स्व-परिणाम-सापेक्ष है। परिणाम योग्य होते हुए भी मल स्वतः यानी अपने-आप परिणत नहीं हो सकता; क्योंकि अचेतन वस्तु सर्वदा सर्वथा चित्-शक्ति को अयोज्य है। इसलिए मल ऐसी शक्ति के द्वारा ही परिणत होता है।

मलाख्य-प्रधान पाश का शास्त्रीय नामान्तर नीहार, अंजन, अविद्या, मूर्च्छा, आवरण आदि है। **कर्माख्य पाश** के बारे में खास कुछ कहने को नहीं है। यह धर्म-अधर्मात्मक और अदृष्ट, बीज आदि नाम से परिचित है। कर्मसन्तान प्रवाह-रूप में अनादि और सूक्ष्म देह के मध्य अवयवभूत बुद्धि-तत्त्व में आश्रित है।

मायाख्य-पाश मायातत्त्व से भिन्न है। सृष्टि के आदि में जब मन्त्रेश्वर द्वारा मायातत्त्व का क्षोभ होता है, तो उससे कला, विद्या आदि तत्त्व साक्षात् और परम्पराक्रम से परिणति-लाभ करते हैं। कला से पृथ्वी तक तत्त्व की समष्टि ही माया का स्वरूप है। पूर्यष्टक, सूक्ष्म देह आदि माया का ही नामान्तर है। यह प्रत्याहमनियत एवं प्रलय या मोक्षकाल तक जीव के भोग-साधन रूप में नीचे के भुवनों में कर्म के अनुसार पर्यटनशील है। मायातत्त्व और माया ठीक एक नहीं। साधारण और असाधारण-भेद से मायारूप तत्त्वसंचित दो प्रकार की है। साधारण माया बहुत ही विस्तृत और सर्वात्मभोग्य भुवनों का आधार-स्वरूप है। यह माया विन्दु की विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति नामक तीन कलाओं में लगभग निश्चल होकर रहती है। विद्याकला में माया, कला, काल, नियति, विद्या, राग और प्रकृति संज्ञक सात भुवनाधार हैं, जिनमें अंगुष्ठमात्र भुवन से वामदेव नामक भुवन तक सत्ताईस भुवन अवस्थित हैं। प्रतिष्ठा-कला में गुण से जल तक तेईस तत्त्वरूपी भुवनाधार हैं। इन सब आधारों में श्रीकण्ठ भुवन से अमरेश भुवन तक छप्पन भुवनों का सन्निवेश है। निवृत्ति-कला में केवल पृथ्वी-तत्त्व है—यह भद्रकालीपुर से कालाग्निभुवन तक एक सौ आठ भुवनों का आधार है।

इस साधारण, अत्यन्त विस्तृत माया के राज्य में प्रत्येक आत्मा का भोग-साधनभूत संकोच-विकासशील सूक्ष्म देहात्मक अनगिनती तत्त्व-समष्टियाँ यहाँ-वहाँ विचरण करती हैं। ये सूक्ष्मदेह या पूर्यष्टक ही पूर्ववर्णित असाधारण माया है। तत्-तत् भुवनजन्य स्थूल देह से जब इन सूक्ष्मदेहों का सम्बन्ध होता है, तो उस-उस कर्म-सन्तान की भोग-योग्यता उत्पन्न होती है।

मायातत्त्व नित्य, विभु एवं एक होते हुए भी विचित्र शक्तिमय है। यही परम कारण है। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर-शक्ति के द्वारा क्षुब्ध होकर यह कला, काल और नियति नाम के तीन तत्त्वों को उत्पन्न करता है। इनमें से कलातत्त्व मलशक्ति का कुछ तिरोभाव करके आत्मा के चैतन्य को आंशिक रूप में उद्बुद्ध करता है। इसके फल-स्वरूप आत्मा का स्वरूप उस व्यंजक के द्वारा अनुविद्ध होने के कारण उसमें स्वकीय व्यापार में थोड़ी मात्रा में कर्तृत्व-भाव का विकास होता है। मल आत्मा का अवश्य रोध नहीं करता, पर आत्मा की शक्ति का रोध करता है। वही शक्ति ही करण है। अतएव, कला-तत्त्व आत्म-शक्ति के मलावरण को किंचित् हटाकर और कुछ परिमाण में

आत्मा के कर्तृत्व को उद्‌बुद्ध करके आत्मा को अपने फल-भोग में मदद ही करता है। बुद्धितत्त्व का उपरंजन ही आत्मा का भोग है। यह एक प्रकार का संवेदन है, जिसका स्वरूप सुख आदि प्रवृत्ति-समूह में अभिन्न रूप में भासमान है।

[छह]

समग्र अशुद्ध अथवा साक्षात् एवं परम्परा-रूप में मायातत्त्व का परिणाम है, यह पहले कहा जा चुका है। अनन्त नामक विद्येश्वर के द्वारा क्षोभित होकर माया अपने कार्य का उत्पादन करती है। माया के क्षोभ में शिव के साक्षात् कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया जाता। किन्तु, उनका प्रयोजक कर्तृत्व अवश्य ही होता है; क्योंकि शिव के अधिष्ठान के बिना अनन्त आदि का कर्तृत्व सम्भव ही नहीं। किरणागम में है—

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्त्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः।

माया की यह जो विचित्र भुवनादि रूप में और नाना प्रकार के देहेन्द्रिय आदि रूप में अर्थात् कर्मफल-भोग के साधन-रूप में परिणति होती है, यह विविध बन्धयुक्त स-कलारूप पशु के लिए है। इस स-कल पशु की अनात्मा में आत्माभिमान-रूप मायेय बन्ध, सुख-दुःख-मोह की हेतुभूत अशक्ति आदि भाव प्रत्ययात्मक कर्मबन्ध और पशुत्वसम्पादक अनादि आवरणमय आणव बन्ध मौजूद रहता है। तान्त्रिक आचार्यगण कहते हैं कि शरीरी और अशरीरी आत्मा के कर्तृत्व में कुछ भेद है। इसीलिए शिव की स्वशक्ति द्वारा बिन्दु का क्षोभ तथा अनन्त की स्वशक्ति द्वारा माया का विक्षोभ ठीक एक प्रकार का व्यापार नहीं है। शिव की स्वशक्ति है शुद्ध संवित्, विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान। किन्तु अनन्त का स्वशक्ति-ज्ञान सविकल्प ज्ञान यानी विकल्प विज्ञान है। शरीर, इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध नहीं रहने से कर्तृत्व नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है; क्योंकि अशरीरी आत्मा में भी स्वदेहसम्पदादि के विषय में कर्तृत्व देखा जाता है। आत्मा में मल का सम्बन्ध रहने से ही शरीर आदि की अपेक्षा होती है। शिव वास्तव में निर्मल हैं, इसलिए उनका कर्तृत्व शरीरादि निरपेक्ष है। परन्तु मायाधीश अनन्त सदा निर्मल नहीं; क्योंकि उनमें अधिकार-मल होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उनका शरीर बैन्दव देह है। अनन्त आदि का यह सविकल्प ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? आगम का मत यह है कि 'अयं घटः' ऐसे परामर्श-स्वरूप शब्द के उल्लेख से आत्मा के सविकल्प ज्ञान का उदय होता है—

'सविकल्पकविज्ञानं चितेः शब्दानुवेधतः।'

अनन्त के विकल्प-विज्ञान में भी शब्दोल्लेख है। पूछा जा सकता है कि यह कैसे होता है? अभी तो अशुद्ध अध्वा की उत्पत्ति हुई नहीं है; क्योंकि माया के क्षुब्ध होने से उसके परिणामस्वरूप इस अध्वा की उत्पत्ति होती है। इसीलिए तान्त्रिकगण स्थूल आकाश को इस शब्द के अभिव्यंजक रूप में कबूल नहीं करते। उनके मत से शिवजन्य बिन्दु-क्षोभ से यह शब्द उत्पन्न होता है। बिन्दु ही पर-व्योमरूपी कुण्डलिनी है, यह बात पहले कही जा चुकी है। कहना नहीं होगा कि चिदाकाश या बिन्दु ही इस शब्द का उपादान है, मायिक आकाश नहीं। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा—ये चार शब्द की ही वृत्ति हैं। पंचभूत का आदिभूत आकाश जैसे अवकाशदान और स्थूल शब्द के अभिव्यंजन द्वारा चन्द्र-सूर्य आदि ज्योतिर्मण्डल का भोग और अधिकार सम्पन्न करता है, वैसे ही बिन्दुरूप परम आकाश भी अवकाशदान और शब्द-व्यंजन द्वारा शुद्धाध्ववासी शिवों अर्थात् सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व-रूप शिवत्व योगी विद्येश्वरों आदि के भोग और अधिकार का कारण होता है।

बिन्दु ही शब्द का उपादान है, इसलिए परा, पश्यन्ती आदि स्वीय शब्दात्मक वृत्ति-भेद के सम्बन्ध से 'घटोऽयं लोहितः' आदि परामर्श विकल्प के उल्लेख से सविकल्प ज्ञान का उत्पादन करता है। जाति आदि विशेषण-विशिष्ट सविकल्प ज्ञान शब्दानुविद्ध होकर ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष-अनुभव है, इसलिए इसे पूर्वानुभूत वासनात्मक संस्कार या वासना-रूप समझने का कोई कारण नहीं है।

यहाँ एक बात कहने की है। अध्यवसाय चूँकि बुद्धि का कार्य है, इसलिए बहुतेरे लोग सविकल्प अनुभव को बुद्धि का परिणाम मानते हैं। किन्तु तान्त्रिक आचार्यगण कहते हैं कि अध्यवसाय बुद्धि का परिणाम होने पर भी बिन्दु का कार्य शब्द के संहकार के कारण विकल्प-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। माया के ऊपर बुद्धि के नहीं होते हुए भी वाक्-शक्ति के द्वारा ही विद्येश्वर आदि शुद्धाध्ववासी का सविकल्प अनुभव सिद्ध होता है। अतएव अनन्त किस प्रकार से विकल्प-ज्ञान के द्वारा माया को क्षुब्ध करके जगत् की सृष्टि करते हैं, इससे यह समझा जा सकता है।

कोई-कोई अनन्त के इस सविकल्प ज्ञान के द्वारा कर्तृत्व दूसरी तरह से भी उपपादन करते हैं। लेकिन वह सर्वत्र स्वीकृत नहीं होता, इसलिए यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया गया।

[सात]

बिन्दु की परा, पश्यन्ती आदि चार प्रकार की शब्द-वृत्ति का उल्लेख पहले किया गया है। अणु या जीवमात्र ही इन वृत्तियों से व्याप्त है। यह व्याप्ति तीन प्रकार की है, इसलिए किसी जीव का ज्ञान उत्कृष्ट, किसी का मध्यम और किसी का ज्ञान अपकृष्ट होता है। इन वृत्तियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. **वैखरी**—यह श्रोत्रग्राह्य और अर्थ की वाचिका है। वायु, कण्ठ आदि स्थानों में विधृत होकर वर्ण का आकार धारण करती है। प्रयोग के समय साधारणतया यह प्राण की वृत्ति को आश्रय करके प्रयुक्त होती है। यह 'आकाश-वायु प्रभव' कहकर शास्त्र में वर्णित होती है।

२. **मध्यमा**—यह प्राणवृत्ति के अतीत, श्रोत्र के अगोचर तथा अन्तः-संजल्परूप अर्थात् परामर्श-ज्ञानस्वरूप है। यह केवल बुद्धि का परिणाम है। यह क्रम विशिष्ट और स्थूल शब्द का कारण है।

३. **पश्यन्ती**—इसका दूसरा नाम अक्षर बिन्दु है। यह स्वयं प्रकाश एवं वर्णों के अविभागवश क्रमहीन है। इस पश्यन्ती वाक् को आगमशास्त्र ने 'मयूराण्डरसवत्' कहा है।

४. **परा या सूक्ष्मा**—इसका दूसरा नाम परनाद है। बहुत स्थानों में इसी को अविधेय बुद्धि के बीजरूप में वर्णित किया गया है। यह स्वरूप ज्योतिर्मय प्रतिपुरुष में भिन्न है। यह सूक्ष्म वाक् सुषुप्ति-अवस्था में भी विरत नहीं होता। पुरुष के स्वरूप से इस वाक् का स्वरूप विविक्त रूप में साक्षात्कृत होने पर पुरुष का भोगाधिकार निवृत्त होता है। इस विवेक-ज्ञान के उदित नहीं होने तक पुरुष भोक्ता ही रहता है, शब्दानुविद्ध ज्ञान से परे विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान-लाभ नहीं कर सकता।

तन्त्रमत से सांख्यसम्मत सत्त्व पुरुषान्यताख्याति या विवेक-ख्याति से आत्मा की स्वरूपस्थिति नहीं होती। इसीलिए सांख्य का कैवल्य आगमशास्त्र में मोक्ष-रूप में गृहीत नहीं होता। वास्तव में इस कैवल्य-अवस्था में आत्मा का पशुत्व नहीं जाता और शिवत्व की अभिव्यक्ति भी नहीं होती। सिद्धान्ती शैवमत में सांख्यसम्मत केवली पुरुष में परावाक् का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। दीक्षा के प्रभाव से मल की निवृत्ति हुए बिना पुरुष और सूक्ष्म वाक् का स्वरूपगत अविवेक दूर नहीं हो सकता।

[आठ]

बिन्दु विशुद्ध सृष्टि का मूल उपादान कारण है। विचित्र भुवन आदि कार्य-रूप में विशुद्ध सृष्टि का वर्णन आगमशास्त्र में सर्वत्र ही देखने को मिलता है। यह सृष्टि वाच्य और वाचक अर्थात् शब्द और अर्थ—उभयात्मक है। वाच्य अर्थ जैसे बिन्दु से उद्भूत है, वैसे ही वाचक शब्द भी बिन्दु से ही उद्भूत है। शब्द का मूल उपादान-कारण बिन्दु है। वस्तुतः इसी दृष्टि के अनुसार बिन्दु पर-नाद के रूप में गुह्यशास्त्र में वर्णित है।

बिन्दु का प्रसर या प्रसरण तीन श्रेणियों में विभक्त होता है। इसकी पहली श्रेणी है नाद। यह परनाद से भिन्न एवं सूक्ष्म नाद के रूप में परिचित है। परनाद सृष्टि के अतीत है। परमेश्वर की समवायिनी विद्रूपा शक्ति जब निष्क्रिय रहती है, तब यह मौजूद रहता है। यह बिन्दु के क्षोभ से उत्पन्न होता है। वस्तुतः यह बिन्दु का मूल स्वरूप है, और कुछ नहीं। सूक्ष्म नाद अभिधेय बुद्धि का हेतु और बिन्दु के प्रथम स्फुरण से उद्भूत है। यह चिन्ता-रहित है। लेकिन, बिन्दु का द्वितीय प्रसरण, जिसे आमतौर से अक्षर-बिन्दु कहा जाता है, वह सूक्ष्मनाद कार्य एवं परामर्श-ज्ञान-स्वरूप है। मयूराण्ड-रस में जिस प्रकार विचित्र वर्ण अभिन्न रूप में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार इस अक्षर-बिन्दु में भी परामर्श-ज्ञान का अनन्त वैचित्र्य निहित रहता है। आचार्यगण साधारणतया अव्यपदेश्य कहकर इसका वर्णन किया करते हैं। बिन्दु का तृतीय प्रसरण वर्ण है। यह श्रोत्रग्राह्य स्थूल शब्द है, जो आकाश और वायु से आत्मप्रकाश करता है। इस विभाजन का मूल कालोत्तरतन्त्र में मिलता है—

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयम् भवेत्।
चिन्तया रहितं यत्तु तत् परं परिकीर्त्तितम्॥

द्वैतागम में बिन्दु को विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। **शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, महामाया, विद्याशक्ति, अनाहत, व्योम** आदि नाम बिन्दु के ही पर्याय हैं। जड़ होते हुए भी बिन्दु शुद्ध है। द्वैत तान्त्रिक सिद्धान्त में शिव या परमेश्वर से बिन्दु या महामाया के सम्बन्ध के बारे में साधारणतः दो प्रकार के मत देखने को मिलते हैं। इनमें से प्रचलित मत यह है—

शिव के दो शक्ति हैं—एक समवायिनी, दूसरी परिग्रहशक्ति। समवायिनी शक्ति विद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकार और स्वाभाविक है। इसीका दूसरा नाम है शक्ति-तत्त्व। यह शक्ति शिव में नित्य समवेत रहती है। दोनों में जो सम्बन्ध है, उसे तादात्म्य कहा जाता है। किन्तु परिग्रह-शक्ति अचेतन और परिणामशील है।

इसीका दूसरा नाम बिन्दु है। बिन्दु के शुद्ध और अशुद्ध—दो रूप हैं। साधारणतः शुद्ध रूप को ही बिन्दु या महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूप का दूसरा नाम माया है। दोनों ही नित्य हैं। अशुद्ध अध्वा का उपादान-कारण माया है और शुद्ध अध्वा का उपादान है महामाया—यही खास बात है। सांख्यसम्मत तत्त्व या तन्त्रप्रसिद्ध कलादि कंचुक सभी अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं। यही सब माया के कार्य हैं (अवश्य पुरुष या आत्मा नित्य और स्वरूपतः विलक्षण है), और माया के ऊपर स्थित तत्त्व शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत है।

दूसरा मत है—इस मत से बिन्दु ही शुद्ध और अशुद्ध अध्वा का उपादान है। इस मत से माया नित्य नहीं, कार्य है। महामाया या बिन्दु की तीन अवस्थाएँ हैं—परा, सूक्ष्म और स्थूल। परावस्था को महामाया, परा-माया, कुण्डलिनी आदि नाम से अभिहित किया जाता है। यही परमकारण और नित्य है। सूक्ष्म और स्थूल—दोनों ही अवस्थाएँ कार्य हैं, इसलिए अनित्य हैं। महामाया के क्षुब्ध होने से ही शुद्धधाम एवं उनके निवासी मन्त्र (विद्या), मन्त्रेश्वर (विद्येश्वर) आदि सभी के शरीर, करण आदि इसीसे रचित होते हैं। अर्थात् शुद्धलोक का संस्थान एवं देहादि सभी साक्षात् महामाया के कार्य—शुद्ध, मायातीत और उज्ज्वल हैं।

महामाया की सूक्ष्म या दूसरी अवस्था का नाम माया है। यह चूँकि पहली अवस्था से उद्भूत होती है, इसलिए अनित्य है। कला आदि तत्त्व-समूह के अविभक्त स्वरूप को ही माया कहते हैं। कला आदि के सम्बन्ध के बिना पुरुष भोक्ता नहीं हो सकता। द्रष्टापुरुष के भोक्तृत्व-उपपादन के लिए कला आदि का योग जरूरी है। माया से कलादि (तत्त्व और भुवनात्मक) एवं प्रकृति आदि साक्षात् या परम्परा-रूप में उद्भूत होती हैं। समस्त अशुद्ध अध्वा का कारण यही माया है। आगम में एक ओर इसे जैसे जननी कहा गया है, दूसरी ओर उसी प्रकार मोहिनी के रूप में वर्णित किया गया है।

महामाया की स्थूल या तीसरी अवस्था का नाम प्रकृति है। यह त्रिगुणात्मक है। प्रकृति-पुरुष के भोग-साधन तत्त्वसमूह को (बुद्धि-प्रकृति) एवं भोग्य विषयों का साक्षात् या परम्परा में उत्पन्न करती हैं। कला आदि के सम्पर्क से पुरुष भोक्ता बने हैं, इसीलिए उनके भोग्य और भोग-साधन के उत्पादन के लिए महामाया ने प्रकृति-रूप तीसरा या स्थूल अवस्था को ग्रहण किया है।

[नौ]

बिन्दु शिवसमवेत नहीं है, यह कहा जा चुका है। यही प्रचलित मत है। इस मत से बिन्दु परिणामी है, इसलिए जडात्मक है। इसीलिए चिदात्मक परमेश्वर-स्वरूप में इसका समवाय स्वीकृत नहीं होता। शिव में समवाय स्वीकार करने से उनका अचेतनत्व-प्रसंग अनिवार्य हो जाता है। श्रीकण्ठ ने कहा है—

स हि तादात्म्यसम्बन्धो जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्ड चिद्घनैकस्वरूपिणः॥

लेकिन तान्त्रिक दार्शनिकों में कोई-कोई बिन्दु-समवायवादी भी थे। उनके अनुसार शिव की **समवायिनी शक्ति** दो प्रकार की है—एक **दृकशक्ति** या **ज्ञानशक्ति** और दूसरी **क्रियाशक्ति** या **कुण्डलिनी**। माया अवश्य बिलकुल भिन्न है—माया शिव में समवेत नहीं होती। स्वसमवेत ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगत्-विषयक ज्ञान और स्वसमवेत क्रियाशक्ति के द्वारा उनकी जगत्-रचना उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति तत्-तत् अर्थ के विषयीकरण से ही चरितार्थ होती है, परन्तु वस्तु-निर्माण-रूप फल क्रियाशक्ति के बिना निष्पन्न नहीं होता। ये दोनों ही शक्तियाँ परमेश्वर में अविनाभाव-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं।

शुद्ध भुवन और शुद्ध देह तथा करण आदि बात पहले कही जा चुकी है। ये सब बिन्दु या महामाया के परिणाम हैं, माया के परिणाम नहीं। लेकिन, इसकी चर्चा करने से पहले बिन्दु के अवस्था-भेद के बारे में संक्षेप में दो-चार बातें कह लेने की जरूरत है। **बिन्दु के क्षोभ** से शुद्ध जगत् उत्पन्न होता है और उसी प्रकार **माया के क्षोभ** से अशुद्ध जगत् आविर्भूत होता है। शिव स्वात्मसमवेत शक्ति के द्वारा बिन्दु को आक्रमण करते हैं कि बिन्दु का क्षोभ होता है। नहीं तो नहीं होता। अतएव एकमात्र परमेश्वरी शक्ति के द्वारा ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति सम्भव है। किन्तु माया का क्षोभ साक्षात् रूप से शिव की शक्ति के द्वारा नहीं होता। तन्त्र के मत से परमेश्वर पंचकृत्यकारी हैं—सृष्टि, पालन, संहार, निग्रह और अनुग्रह—इन पाँच कृत्यों के मुख्य कर्त्ता परमेश्वर हैं, ब्रह्मादि द्वार-मात्र हैं। इस कृत्यपंचक के सम्पादन के लिए शुद्ध अध्वा की आवश्यकता है। इसीलिए बिन्दुक्षोभ की भी जरूरत है। शिव एक हैं, उनकी शक्ति भी एक ही है, लेकिन उपाधि-भेद के कारण उनमें भेद का आरोप होता है। शैवीशक्ति जब अव्यक्त होती है, तो वह निष्क्रिय, शुद्ध और संवित्-रूप होती है। उस समय बिन्दु का क्षोभ नहीं रहता, पर बिन्दु-स्वरूप के अधिष्ठाता शिव को यह परावस्था है।

प्रसंगवश यहाँ एक बात कहना उचित प्रतीत होता है। प्रचलित मत से शक्ति एक है, इसलिए उसमें ज्ञान और क्रिया का कोई भेद नहीं। जो भेद प्रतीत होता है, वह औपाधिक है। इसलिए ज्ञान भी सदा क्रियारूप है, इसीलिए क्रिया शब्द से बहुत जगह शक्ति का अभिप्राय होता है। यह शक्ति जब सारे व्यापार का उपसंहार करके स्वरूप-मात्र में उपस्थित होती है, तो शिव को शक्तिमान कहा जाता है। क्रियारूपा शक्ति उस समय मुकुलिका के समान शिव में अवस्थान करती है। यही शिव की पूर्ववर्णित **लयावस्था** है। वह शक्ति जब उन्मेषित होकर उद्योगवशतः बिन्दु के कार्य का प्रसवाभिमुख्य सम्पादन करती है और कार्य-सम्पादन करके परमेश्वर की ज्ञानक्रिया को समृद्ध करती है, वह शिव की भोगावस्था है। शिव का परमानन्द या भोग सुख-संवेदन-रूप नहीं होता; क्योंकि मलहीन चित्तसत्ता में उपाधि-भूत आनन्द और भोग सम्भव नहीं है। इस अवस्था में शक्ति को कहा जाता है उद्युक्त और चूँकि उनके साथ हैं, इसलिए शिव को भी उद्युक्त कहा जाता है—

स तया रमते नित्यं समुद्युक्तः सदाशिवः।
पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् देवः सकलनिष्कलः॥

लयावस्था में शिव को **निष्कल** और भोगावस्था में उन्हें **सकल-निष्कल** कहते हैं। इसके सिवाय उनकी एक अधिकार-अवस्था है, जिसके बारे में बाद में चर्चा की जायगी। इस अवस्था में वह स-कल हैं। शिव का यह अवस्था-भेद औपचारिक है, वास्तविक नहीं। शक्ति या कला की अविकास-दशा, विकासोन्मुख दशा और पूर्ण विकास की दशा के अनुसार शिव का अवस्था-भेद कल्पित होता है।

शिव-शक्ति के इस लयादि अवस्था-भेद के मूल में है बिन्दु का अवस्था-भेद। **निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति** और **शान्त्यतीत कला** बिन्दु की ही भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। उनमें से शान्त्यतीत कला को बिन्दु का स्वरूप माना जा सकता है। यह अक्षुब्ध बिन्दु या लयावस्था है। शुद्ध और अशुद्ध सारे भोगाधिष्ठान शान्ति आदि चार कला के परिणाम हैं। वास्तव में भोगस्थान कहने से शान्ति आदि कला चतुष्टय का भुवन ही समझना होगा। शान्त्यतीत पर-बिन्दु कला-समूह की कारणावस्था या लयावस्था है। इसलिए शान्त्यतीत भुवन ठीक भोगस्थान नहीं है, लेकिन चूँकि सृष्टि के प्रारम्भ में ही शान्त्यतीत भुवन उत्पन्न होता है, इसलिए कहीं-कहीं उसे भी भोग-स्थान में गिना जाता है, पर यह भोग की बीजावस्था है।

कलारूप शक्ति ही **शिव के देहरूप** में व्यपदिष्ट होती है। इसीलिए लयावस्था में शिव को या निष्कल शिव को **अशरीर** कहा जाता है। भोगावस्था में शिव **सकल-निष्कल** होते हैं, उस समय उनकी देह **पञ्चमन्त्रात्मक** होती है। **तन्त्रालोक** से शक्ति ही मन्त्र है—

मननात् सर्वभावानां त्राणात संसारसागरात ।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी ॥

मन्त्ररूप यह शक्ति मूलतया एक है—भेद सिर्फ औपाधिक है । कार्य के भेद से अधिष्ठान के कारण एक ही शक्ति पञ्चधा प्रतिभात होती है । इसके अनुसार बिन्दु भुवन की अधिष्ठात्री शक्ति को **ईशान मन्त्र** एवं शान्त्यादि भुवन-चतुष्टय की अधिष्ठात्री शक्तियों को क्रम से **तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव** और **अघोर मन्त्र** कहा जाता है । ये भुवन भोगस्थान हैं । ईशान आदि पंचमन्त्रात्मिका शक्ति तनु या देह का कार्य करती है, इसलिए उसे शिवतनु कहा जाता है । वास्तव में यह पारमार्थिक देह नहीं है । ये पंचमन्त्र परमेश्वर के पंचकृत्य के उपयोगी हैं । बिन्दु-कलाएँ कारण-अवस्था में लीन रहने से उस अवस्था को पर-बिन्दु कहते हैं । उस स्थिति में कलाओं में परस्पर कोई विभाग नहीं रहता । इस पर-बिन्दु की अधिष्ठात्री शक्ति ही शिव की परामूर्त्ति है । यह लयावस्था की बात है । शिव को जब अशरीर कहा जाता है, तब इसी अवस्था का लक्ष्य रखा जाता है । शक्ति उस समय लीन एवं बिन्दु अक्षुब्ध, असत्कल्प रहती है—एकमात्र शिव ही उस समय अपनी महिमा से विराजमान रहते हैं ।

बिन्दु-कलाएँ जब कार्य की अवस्था में मौजूद होती हैं, तब उनकी अधिष्ठात्री शक्ति को शिव की अपरा मूर्त्ति कहते हैं । भोगस्थान के रूप में जिन कलाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें निवृत्ति-भुवन सबसे निम्नतम है । इस निवृत्ति-भुवन के अधोवर्त्ती भुवन का नाम सदाशिव-भुवन है । इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की अपरा मूर्त्ति या सदाशिवतनु है । शिव की यह सदाशिव देह या नाम औपचारिक है—सदाशिव-भुवन के अधिष्ठान के कारण इसका उद्भव हुआ है । जो जीव दीक्षा आदि के द्वारा उन भुवनों को प्राप्त करते हैं, उनका भेद सत्य है, पर शिव और शक्ति का भेद कार्यभेदवशतः औपाधिक है—

अधिकारी स भोगी च लयी स्यादुपचारतः ।

अर्थात् शिव की शक्ति से क्षोभित महामाया जिस-जिस कार्य का उत्पादन करती है, उनमें उनके अधिष्ठाता शिव और शक्ति, दोनों के कार्यभेदवश एवं स्थान-भेद के कारण उपचार-निबन्धन उस-उस संज्ञा का व्यपदेश होता है । जैसे, शान्ति-भुवन के अधिष्ठान और उत्पादनवश शक्ति और शिव क्रम से शान्ता और शान्त संज्ञा प्राप्त करते हैं । ऐसा ही अन्यत्र भी समझना होगा । मृगेन्द्रागम में है—

किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् स शास्त्रे शक्तिभेदवत् ।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदस्थानभेदतः ॥

अधिकार-अवस्थापन्न शिव स-कल हैं । वह बिन्दु से अवतीर्ण एवं अणु सदाशिव या पशु सदाशिवगण से समावृत हैं । ये सदाशिव वस्तुतः अणु या पशु आत्मा हैं, शिवात्मा

नहीं। इनका आणव मल थोड़ा-बहुत बच रहा है, इसीलिए इनकी ज्ञान-क्रियारूप शक्ति का अभी भी कुछ संकोच रह गया है। शिव की भाँति ये पूर्णतया अनावृत शक्ति नहीं हैं। ये यद्यपि मुक्त पुरुष हैं, फिर भी सर्वथा मलहीन नहीं होने के कारण अभी भी परामुक्ति या शिव-साम्य नहीं प्राप्त कर सके हैं। परमेश्वर को भी सदाशिव-भुवन का अधिष्ठाता होने के नाते सदाशिव कहते हैं, किन्तु वह स्वयं शिव हैं। वह पूर्वोल्लिखित अणु सदाशिव-वर्ग को अपने-अपने भुवन-भोग में नियोजित करते हैं, और विद्येश्वर या मन्त्रेश्वरगण को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार अशुद्ध अध्वा के अधिकार में नियोजित करते हैं। ये दो नियोजन-व्यापार ही अधिकारातत्त्व या स-कल शिव का कार्य है। यहाँ उनका प्रेरकत्व और प्रभुत्व है। यह सदाशिव-रूपी शिव समग्र जगत् के प्रभु-रूप में शुद्ध और अशुद्ध सभी अध्वा के मूर्धदेश में विराजमान हैं। योगीगण इसी रूप में उनका ध्यान किया करते हैं।

माया से ऊपर शुद्ध अध्वा में बहत्तेरे भुवन हैं। प्रत्येक भुवन में तदनुरूप देह, करण आदि तथा भोग्यादि हैं। ये सब विशुद्ध बैन्दव उपादान से रचित हैं। इसमें भी भुवन के ऊर्ध्व-अध-भेद से उत्कर्ष का क्रम है। उदाहरण-स्वरूप कहा जा सकता है कि शुद्ध अध्वा में जो वामा, ज्येष्ठा आदि का भुवन है, उसमें वामा से ज्येष्ठा के भुवन का उत्कर्ष अधिक है, वैसे ही ज्येष्ठा से रौद्री के भुवन का उत्कर्ष अधिक है। इसी विद्यातत्त्व में ही सात कोटि मन्त्र और उनकी अधीश्वरी सात विद्याराज्ञी का अधिष्ठान है। ईश्वर-तत्त्व में आठ विद्येश्वर अपने-अपने पुर में सबसे ऊपर अवस्थित हैं। इनमें से शिखण्डी सबसे नीचे और अनन्त सबसे ऊपर हैं। इनमें भी पहले जैसा क्रमोत्कर्ष है। सदाशिव-तत्त्व में भी ठीक ऐसा ही है। यहाँ उनका विशेष विवरण देने की जरूरत नहीं है।

[दस]

अब परमेश्वर के पञ्चकृत्य और दीक्षातत्त्व के सम्बन्ध में कुछेक बातें कही जा रही हैं।

परमेश्वर नित्य, निर्मल, सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता हैं, यह कहा जा चुका है। तान्त्रिक ग्रन्थ में वह पति और परमशिव नाम से अभिहित होते हैं। इसके विपरीत पशु-आत्मा मल, कर्म और मायाख्य पाश से आबद्ध है। परमेश्वर-अनुकम्पा से इन पाशात्मक बन्धनों को हटाकर पशु-आत्मा को अपने जैसा कर लेते हैं। यही पशु का शिव धर्म्याभिव्यक्ति-रूप अनुग्रह या मोक्ष है। पशुओं के चैतन्य उपरोधक अनादि मल का अधिकार

जबतक निवृत्त नहीं होता, तबतक अनुग्रह की प्रवृत्ति नहीं होती। मृगेन्द्र आगम में है—

तमः शक्त्यधिकारस्य निवृत्तेस्तत् परिच्युतौ।
व्यनक्ति दृक्क्रियाऽनन्त्यं जगद्बन्धुरणोः शिवः॥

मल द्रव्यात्मक है, इसलिए उसकी निवृत्ति ईश्वर के व्यापार-विशेष द्वारा ही सम्पन्न होती है। इस व्यापार-विशेष को **दीक्षा** कहते हैं। जबतक मल-परिपाक नहीं होता, इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मलपाक के लिए ही परमेश्वर पुरुष को अलक्षित रूप से मायिक अर्थ के सम्बन्ध निमित्त अनादि कर्म भोगात्मक संसार प्राप्त कराते हैं। यही उनका **तिरोधान** नामक कृत्य है, जो सृष्टि, स्थिति और संहार—तीनों के ही अनुगत है। तिरोधान का दूसरा नाम है—रोध।

मल, माया और कर्म, तीनों का ही पाक आवश्यक है। मलपाक के बारे में पहले कहा गया है। मायाशक्ति-समूह को अभिव्यक्ति के योग्य करना ही मलपाक का उद्देश्य है। इसी प्रकार कर्म भी परिपक्व होने पर अपना फल देने में समर्थ होता है। अपक्व कर्म फलदायक नहीं होता। मल आदि त्रिविध पाश के ही पाक या परिणाम का कारण परमेश्वर का सामर्थ्य या स्वातन्त्र्य है। सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह—ये पंचविध कृत्यकारी परमकारुणिक परमेश्वर ही शास्त्र में उपास्य के रूप में निर्दिष्ट हैं, दीक्षा-शुद्ध आत्मा ही उनका उपासक है। इस प्रकार की आत्मा ही परमेश्वर से साम्यलाभ में समर्थ होती है।

बहुत जन्मों की वासना और पुण्यों के प्रभाव से जिस किसी समय में, जिस किसी आश्रम में अवस्थान के समय अचिन्त्य भाग्योदयवश किसी आत्मा के अनादि चैतन्य के आवरण-स्वरूप मल का किंचित् पाक होने से मन्दतर शक्तिपात होता है। इसी का नाम **कृपा** या **अनुग्रह** है। इसकी मात्रा के अनुसार परमेश्वर के प्रति भक्ति, श्रद्धा आदि का उदय होता है। और तब शिवहस्तार्पण-रूप **प्रथम दीक्षा** का समय आता है। कर्मों का परिपाक करना ही इस दीक्षा का उद्देश्य है। गुरुशुश्रूषा, गणेश, सूर्य आदि देवता की पूजा आदि इस दीक्षा-संस्कार के बाद ही सम्भव होती है। इसका नाम है **समयदीक्षा**।

इसके बाद आत्मा के अवस्थ मल का पाक होने से तदनुरूप किंचित् मात्रा में शक्तिपात होता है। इस शक्तिपात की मात्रा के अनुसार **विशेष दीक्षा** नाम की **दूसरी दीक्षा** का अवसर आता है। इस दीक्षा के फलस्वरूप भक्ति आदि सद्गुणों का उद्रेक होता है और कर्म आदि पाशक्षयोन्मुख होते हैं। इसका उद्देश्य है मन्त्रग्रहण, शिवलिंग के अर्चन आदि योग्यता-सिद्धि। इस दीक्षा में वागीश्वरीगर्भजन्म-रूप द्वितीय जन्म निष्पन्न होता है। यह दीक्षा-प्राप्त पुरुष **पुत्रक** नाम से परिचित होता है।

इसके बाद और भी विशिष्ट रूप से मलपाक होने पर तीव्रतर भगवत्-शक्ति का संचार होता है। उसके मुताबिक **निर्वाण-दीक्षा** नाम की **तीसरी दीक्षा** का अवसर आता है। इसका उद्देश्य है नित्य आदि सभी शिवधर्म के अनुष्ठान की सिद्धि। इसके परिणामस्वरूप सर्वज्ञत्व आदि छह ऐश्वरिक गुणों अथवा षाड्गुण्य का उन्मेष एवं कला आदि छह अध्वा की विशुद्धता के कारण पूर्णरूप से सभी पाशों का छेद होता है। जो यह तीसरी दीक्षा-लाभ करते हैं, सिद्धान्तज्ञान-साधन उन्हीं के लिए सुकर होता है। क्योंकि ऐसी दीक्षा-प्राप्त आत्मा में ही पशुत्व की निवृत्ति होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति हो सकती है। पहली और दूसरी दीक्षा से पशुत्व का अपगम नहीं होता।

समयी का पूर्व जाति-सम्बन्ध रहता है, इसलिए पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती। वागीश्वरी के गर्भ से दूसरा जन्म पाने के कारण पुत्रक के पूर्व जाति-सम्बन्ध तो नहीं रहता है, पर उसके भी पशुत्व का अपगम नहीं होता; क्योंकि केवल विशुद्ध देह-लाभ करने से ही शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए कि तबतक भी आणव मल मौजूद रहता है। मल के परिपक्व होने पर विशिष्ट संस्कार के फलस्वरूप शिवत्व का उन्मेष सम्भव है। उसके लिए समय चाहिए। दीक्षा के साथ-ही-साथ मलपाक नहीं होता।

[ग्यारह]

दीक्षा के सम्बन्ध में तान्त्रिक दर्शन की और भी दो-चार बातों की संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

समयी के बारे में पहले जो कहा गया है, बहरहाल वही काफी है। प्राथमिक दीक्षा से पूर्णत्व चाहे न मिले, लेकिन उसकी भी सार्थकता है, यह विभिन्न तान्त्रिक ग्रन्थों से पता चलता है। उसके अनुसार इस दीक्षा के प्रभाव से ब्रह्मा आदि अधिष्ठातृ कारण पंचक का विश्लेष होता है। उसके बाद ईश्वरत्व-लाभ की योग्यता आती है। इसका चरम फल है ऐश्वरिक पद-लाभ। चर्चा और ध्यान के द्वारा शुद्धि प्राप्त करके समयी पुत्रकादि पद पाने के योग्य होता है।

इस प्रसंग में और भी एक बात याद रखनी है। साधक दो प्रकार के होते हैं—**बुभुक्षु** और **मुमुक्षु**। इसके मुताबिक उनकी दीक्षा भी दो तरह की है। **बुभुक्षु** साधक भोगार्थी है, इसलिए वह **भौतिक दीक्षा** का अधिकारी है; ऐसे साधक

इस दीक्षा के प्रभाव से शुद्ध जगत् में विचित्र और भोग्य विषय प्राप्त करते हैं। यह सब कुछ पूर्वोक्त बिन्दु का ही परिणाम है। लेकिन जो मुमुक्षु यानी मोक्षार्थी हैं, वे आनन्दमय बैन्दव राज्य के भोग से वीतस्पृह हैं। ऐसे साधक नैष्ठिक दीक्षा के अधिकारी हैं। इस दीक्षा के प्रभाव से शिव शक्तिमय साक्षात् परमेश्वर को प्राप्त करने का अधिकार पैदा होता है। इसीलिए आगम में कला आदि छह प्रकार की अध्वा का विस्तृत विवरण दिया गया है।

समयी-दीक्षा के बाद भोगार्थी और मोक्षार्थी की दीक्षा की चर्चा आवश्यक है। उनमें भोगार्थी साधक दो प्रकार के हैं—एक शिवधर्मा और दूसरा लोकधर्मा। इस हिसाब से साधकी दीक्षा भी दो प्रकार की है—शिवधर्मी और लोकधर्मी। शिवधर्मी साधक मन्त्र-तन्त्र के रहस्यविद् और अभिषिक्त होते हैं। इस दीक्षा के सम्बन्ध में मृगेन्द्र आगम में है—

शिवधर्मिण्यणोर्मूलं शिवधर्मफलश्रियः।

इस दीक्षा के प्रभाव से कोई-कोई साधक मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि पद प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय इस दीक्षा के फलस्वरूप कोई-कोई मायातीत भोग-समूह में प्रलय के समय तक स्थितिशील देह और आनुषंगिक बहुत रिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। लोकधर्मी दीक्षा में मन्त्राराधना नहीं है। लोकधर्मी साधक फल की आकांक्षा करके लोकमार्ग में श्रुति-स्मृति द्वारा निर्दिष्ट आलय में अवस्थान करके इष्टपूर्त्ति-विधान में रत रहते हैं। ये चूंकि शुभकर्म करते हैं, इसलिए मन्त्राराधन नहीं करने पर भी इन्हें साधक कहा जाता है। 'शुभकर्मणैव फलस्य साधनात् साधको ह्ययम्।'

भोगभूमिषु सर्वासु दुष्कृतांशे हते सति।
देहान्तराणिमाद्यर्थं शिष्टेष्टा लोकधर्मिणी॥

इस दीक्षा के प्रभाव से साधक के संचित सारे अशुभ कर्म नष्ट होते हैं और संचित शुभकर्मों का अणिमादि सिद्धि में अवसान होता है। लेकिन प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगना पड़ता है। प्रारब्ध फल देहभोग के अवसान से पतित होने पर दीक्षित साधक गुरु के द्वारा अणिमादि भोग के लिए ऊर्ध्वलोक को चालित किये जाते हैं। वहाँ का भोग समाप्त होने पर भी भोग की वासना अतृप्त रहने पर उस वासना के अनुरूप भोग के लिए लोकान्तर में जाते है। ऐसे शुभ कर्मों के भोग के अन्त में वैराग्य का उदय होने से उस स्थान से भगवान् के निष्कल-स्वरूप में योजित होते हैं। कहना बाहुल्य है, निष्कल में योजना नहीं होकर मायातीत विभिन्न शुद्ध भुवन के अन्तर्गत किसी भुवन के अधिष्ठाता के साथ भी सायुज्यफलक विभिन्न प्रकार की योजना भी हो सकती है। यह सब अवस्था प्राप्त करना साधक के आध्यात्मिक उत्कर्ष पर निर्भर करता है। इसीलिए तन्त्र में है—

लोकधर्मिणमारोप्य भते भुवनकर्त्तरि ।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा मुक्तिकांक्षिणाम् ॥

यह जो ऊर्ध्वगति और योजन की बात कही गई, यह यथाक्रम से साधक और गुरु की अभिसन्धि से होती है ।

मुमुक्षु की दीक्षा **सबीज**, निर्बीज, **सद्योनिर्वाणद** —तीन प्रकार की है । वास्तव में तीसरी दीक्षा भी निर्बीज का ही प्रकार-विशेष है, इसलिए मोक्ष-दीक्षा मोटामोटी दो प्रकार की है ।

साधारणतः **निर्बीज दीक्षा** बालक, मूर्ख, वृद्ध, स्त्री, व्याधिग्रस्त लोगों के लिए है अर्थात् जो शास्त्र-विचार से कुशल नहीं और जिनमें ब्रह्मचर्य आदि क्लेश सहने की क्षमता नहीं है—निर्बीज दीक्षा ऐसों के लिए ही है । इनके लिए समयाचार-पालन की आवश्यकता नहीं । इस दीक्षा के प्रभाव से सिर्फ गुरुभक्ति से ही मुक्ति-लाभ होता है । स्वच्छन्दतन्त्र में है—

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद् भक्तिमात्राद् गुरोः सदा ।

इस स्थिति में गुरुभक्ति-मात्र ही समय है, दूसरा समय नहीं ।

सद्योनिर्वाणद दीक्षा की बात कही गई । यह मुमूर्षु अवस्था में विधेय है; क्योंकि यह दीक्षा दीप्ततम मन्त्र से सम्पन्न होती है, इसलिए अतीत, अनागत एवं आरब्ध—इन तीन प्रकार के पाशों का नाश करनेवाली है । इस दीक्षा की निष्पत्ति के साथ-ही-साथ शुद्धि होती है और देह के अन्त होने पर परम पद मिलता है । गह्वरतन्त्र में है—

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत ॥

सबीज दीक्षा विद्वान् और कष्टसहिष्णु शिष्यों के लिए है । जो लोग यह दीक्षा लेते हैं, उन्हें शास्त्र-निर्दिष्ट समयाचार अच्छी तरह से पालन करना पड़ता है । नहीं करने से शिवमय स्वसत्ता से कुछ समय के लिए भ्रष्ट होकर विपन्न होना पड़ता है ।

[बारह]

पुत्रक और आचार्य-दीक्षा सबीज होती है । वागीश्वरी के गर्भ से जन्म के कारण पुत्रक नाम की सार्थकता है । पृथ्वी से कलातत्त्व तक माया के अन्तर्गत है । यही संसार-मण्डल है । इसके बाद शुद्ध विद्या का राज्य है । शुद्ध विद्या ही वागीश्वरी है ।

इस वागीश्वरी के गर्भ से जन्म होने से ही शुद्धधाम में अवस्थान और संचार का अधिकार आता है। यह जन्म प्राकृत जन्म नहीं है, यह कहना बेकार है। यही वस्तुतः द्वितीय जन्म है। गुरु या आचार्य ही इस जन्म के दाता पिता हैं। इस जन्म के पाते ही मायाराज्य को पार करने का उपाय मिल जाता है। दूसरा जन्म वास्तव में **बन्धवदेह** या **मन्त्रदेह**-लाभ का ही दूसरा नाम है। यह जन्म किस प्रकार से होता है, इसका वर्णन स्वच्छन्द आदि आगम में है। उसके मुताबिक इक्कीस अवान्तर संस्कार के द्वारा यह जन्म-व्यापार निष्पन्न होता है। इसके बाद **भोग, अधिकार** और **लय** – ये तीन संस्कार हैं। सबसे अन्त में जो संस्कार है, उसका नाम है निष्कृति। इस तरह से दूसरे जन्म से निष्कृति तक एक के बाद एक पाँच व्यापारों के यथाविधि सम्पन्न होने पर जीव निखिल पाश और पाश-संस्कार से छुटकारा पाता है।

इसके सिवाय भी एक और व्यापार है, जिसका नाम **शिवत्वयोजन** है। उसके लिए तेरह प्रमेय का अनुभवात्मक ज्ञान आवश्यक है। सद्गुरु के दीक्षा देने से पाशक्षपण और शिवत्व का अभिव्यंजन— ये दोनों ही क्रियाएँ पूर्णरूप से निष्पन्न होती हैं। जिन तेरह विषयों के बारे में कहा गया, वे हैं—

(१) चार प्रमाण, (२) प्राण-संचार, (३) षडध्वविभाग, (४-५) हंसोच्चार और वर्णोच्चार, (६) वर्णकर्तृक कारण-त्याग, (७) शून्य, (८) सामरस्य, (९) त्याग-संयोग और उद्भव, (१०) पदार्थभेदन, (११) आत्मव्याप्ति, (१२) विद्याव्याप्ति, (१३) शिवव्याप्ति।

योजना करने के लिए सबसे पहले पुर्यष्टक या सूक्ष्म देह में जो अहंबोध है, उसकी निवृत्ति जरूरी है। पुर्यष्टक का आश्रय है प्राण और शून्य अर्थात् स्वप्नावस्था में प्राण और सुषुप्ति-अवस्था में शून्य। फलतः **प्राणपद** और **शून्यपद** दोनों को ही **प्रशान्त** करना होगा। इसलिए श्वास का देशगत और कालगत परिमाण जानना जरूरी है। प्राण के आरोह-अवरोह-रूप संचार को जानकर लंघनीय समस्त अध्वा का परिचय ग्रहण करना आवश्यक है। ऊर्ध्वनदनात्मक हंसोच्चार के ज्ञान के बिना अध्व-ज्ञान सम्पन्न नहीं हो सकता। स्वाभाविक और प्रयत्न-साध्य—हंसोच्चार दो प्रकार का है। प्रयत्न-साध्य हंसोच्चार में क्रमशः मन्त्रावयव वर्ण अपने-अपने कारणस्वरूप ब्रह्मादि देवता को एवं तदनुरूप कालमात्रा को किस प्रकार से छोड़ जाता है, यह जानना आवश्यक है। इतनी जानकारी नहीं रहने से स्वप्नाश्रय प्राणपद को शान्त नहीं किया जा सकता। इसके बाद सुषुप्ति के आश्रय शून्यपद का भी उपशम जरूरी है। फलतः शून्यपद का ज्ञान भी निहायत जरूरी है। परमेश्वर से आत्मा की योजना सम्पन्न होने से पहले मन्त्र, आत्मा, नाड़ी आदि का सामरस्य-ज्ञान प्राप्त करना होता है, लेकिन बिना साम्यज्ञान प्राप्त किये सामरस्य-ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा

सकता। अतएव **साम्यज्ञान** भी चाहिए। तन्त्रशास्त्र में साम्य को विषुवत् नाम से वर्णित किया जाता है। मन्त्रोच्चार के अंगरूप में अकारादि उन्मनान्त बारह ज्ञेय का ज्ञान आवश्यक है। **बारह ज्ञेय** हैं—अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। त्याग करने के लिए ही इन सबका ज्ञान आवश्यक होता है, किन्तु त्याग तबतक नहीं हो सकता, जबतक तत्तद् दशा से संयोग नहीं होता। तत्तद् दशा के त्याग में क्रमिक ऊर्ध्व-आरोहरूप उद्भव का ज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु जबतक ग्रन्थियों का भेद नहीं होता, तबतक त्याग के द्वारा भी ऊर्ध्व उद्भव सम्भव नहीं होता। इस ग्रन्थिभेद का उपाय है ज्ञान और योग। ज्ञान और योगरूपी दो शूलों से ग्रन्थिभेद करना होता है, लेकिन ज्ञान और योग का मूल है भाव की दृढ़ता।

इस परिमाण-ज्ञान के फलस्वरूप प्राण और शून्य, दोनों पद की प्रशान्ति होती है। इसके बाद आत्मा, विद्या और शिव—इन तीन तत्त्वों के व्याप्तिज्ञान की आवश्यकता होती है। शुद्ध आत्मदशा के अनुभव तक आत्मतत्त्व की व्याप्ति। इन तेरह प्रकार के प्रमेयों का आगम और अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। इसके बिना परमतत्त्व में योजन हो ही नहीं सकता।

सारे पाशों का नाश करने के लिए पहले बताये गये उपाय से परमेश्वर-भाव का विकास—यही दीक्षा का उद्देश्य है। अद्वैतमत से यह परमेश्वर-भाव शिवत्व है, द्वैतमत से शिवसाम्य—इतना ही अन्तर है।

[तेरह]

प्रसंगवश अब यहाँ वामकेश्वर तन्त्र के अनुसार शक्ति-सिद्धान्त के बारे में कुछ बातें बताई जा रही हैं।

यह सिद्धान्त अद्वैत भाव पर प्रतिष्ठित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि की जो पहली दशा है, वह **तत्त्वातीत अवस्था** से तत्त्वप्रधान द्वैतभाव का आविर्भाव है। तत्त्वातीत अवस्था में प्रकाश-रूप शिव और विमर्श-रूप शक्ति की समरसता रहती है। उस समय विश्व नहीं रहता है, मतलब कि शक्ति के गर्भ में अन्तःसंहृत भाव से शक्ति से अभिन्न होकर वर्त्तमान रहता है। पर, जब पराशक्ति स्वेच्छावश अपनी स्फुरता का दर्शन करती है, तभी विश्व की सृष्टि होती है। स्फुरता का यह सतत दर्शन ही विश्वदर्शन है और विश्वदर्शन ही विश्वसृष्टि है। इस स्थिति में दृष्टि ही सृष्टि है।

अनुत्तर दशा में विश्व-स्वरूप के साथ अभिन्न रूप से रहते हुए भी उसका दर्शन नहीं होता। इसीलिए यह सृष्टि की अतीत अवस्था है। यह शक्त्यात्मक प्रलीन विश्व जब भिन्न नहीं होते हुए भी भिन्नवत् अवभासमान होता है, समझना चाहिए, तभी सृष्टि की सूचना होती है।

अनुत्तर की अंगीभूत पराशक्ति ही विश्वदर्शन या सृष्टि करती हैं—शिव तटस्थ रहते हैं। जिस सामरस्य-अवस्था की बात कही गई, वह शिव और शक्ति का परस्पर अभिन्न भाव है। शिव अग्नि या संवर्त्तानल हैं और शक्ति सोम या विवर्त्तचन्द्र—दोनों का साम्य ही चरम अवस्था में शास्त्रीय परिभाषा के मुताबिक बिन्दु पदवाच्य है। यही बिन्दु ही काम या रति है। बिन्दु-क्षोभ या साम्य की च्युति से ही सृष्टि का आरम्भ होता है। साम्य-अवस्था में अग्नि तथा चन्द्ररूपी शुक्ल और रक्तबिन्दु अहंरूप में अभिन्न रहता है। क्षोभ से चित्कला का आविर्भाव होता है।

अग्नि के ताप से जैसे घी में द्रुति और धारापात होता है, वैसे ही प्रकाशात्मक अग्नि के सम्बन्ध से विमर्श-शक्ति का स्राव होता है। इस प्रकार श्वेत और रक्त—इन दो बिन्दुओं से हार्धकला का निःसरण होता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति का यही रहस्य है। न केवल चैतन्य, बल्कि आनन्दशक्ति के विकास का भी यही रहस्य है।

इस प्रकार से समग्र बैन्दवचक्र चित्-कला रूप में ही आविर्भूत होता है। कहना नहीं होगा, यह चक्र पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन तीन मातृकाओं द्वारा कल्पित है। इसी मूलस्थान से ही छत्तीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

[चौदह]

प्रकाश और विमर्श के सम्बन्ध में और भी कुछ बातें कहने की जरूरत महसूस हो रही है। विमर्श और पराशक्ति की स्फुरता का रहस्य शाक्त और शैवतन्त्र में बहुत स्थानों में उल्लिखित है। और, प्रसंगवश कमोबेश आलोचित हुआ है। इस विषय में सम्यक् विचार तो सम्भव नहीं, दिग्दर्शन-मात्र के लिए दो-चार बातें कही जा रही हैं।

सृष्टि आदि सारे ही व्यापारों के मूल में प्रकाश और विमर्श है, यह बात सर्वविदित है। स्वातन्त्र्य के उन्मेष से पराशक्ति जब अन्तर्लीन अवस्था से अभिव्यक्ति या परिस्फुटता प्राप्त करती है, तभी विश्वचक्र का आविर्भाव होता है। सच तो

यह कि अभिव्यक्ति शक्ति या विमर्श की ही होती है, प्रकाश में उसका उपचार-मात्र होता है। इस दृष्टि से देखने पर समझ में आ जाता है कि तत्त्वमात्र ही शक्ति की ही स्वातन्त्र्योल्लास-निमित्तक अवस्था-विशेष है। यह शिवतत्त्व भी शक्ति में ही परिगणित होता है। एक सिद्ध शाक्ताचार्य ने कहा है—

तथा तथा दृश्यमानानां शक्तिसहस्राणामेक संघट्टः।
निज हृदयोल्लसरूपो भवति शिवोनाम परमस्वच्छन्दः॥

अतएव प्रकाश और विमर्श एक दृष्टि से पराविमर्श का ही प्रकार-भेद है। जो शुद्ध प्रकाश है, वह अनुत्तर, विश्वोत्तीर्ण और तत्त्वातीत है। विमर्श वहाँ अन्तर्लीन है, इसलिए तत्त्व-विचार से प्रकाश और विमर्श दोनों ही विमर्शात्मक या शक्त्यात्मक हैं, इसलिए दोनों ही जगह अंश-कल्पना की जाती है।

वामकेश्वर मत से प्रकाश के अंश चार हैं और उससे अविनाभूत विमर्श के भी अंश चार हैं। प्रकाशांशों के नाम हैं—अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री। विमर्शांशों के नाम हैं—शान्ता, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अम्बिका और शान्ता सामरस्य-अवस्था में शान्तभावापन्न पराशक्ति, परावाक् नाम से परिचित होती हैं। यह आत्मस्फुरण की अवस्था है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येत् यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥

आत्मस्फुरण की जो बात कही गई, इस अवस्था में सारा विश्व बीजरूप में या अस्फुट रूप में आत्मसत्ता में मौजूद रहता है। इसके बाद शान्ता से इच्छा का उदय होने से वह अव्यक्त विश्व शक्ति के गर्भ से निःसृत होता है। इच्छा उस समय वामा से तादात्म्य प्राप्त करती है और पश्यन्ती वाक् के नाम से परिचित होती है। इसके बाद ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति ज्येष्ठा से अभिन्न होती है और मध्यमा वाक् के नाम से ख्यात है। यह शक्ति पहले के उपाय से सृष्ट विश्व की स्थिति का कारण है। ज्ञान के अनन्तर क्रियाशक्ति रौद्री से एकत्व-लाभ करके वैखरी के नाम से प्रसिद्ध होती है। प्रपंचात्मक वाक्-वैचित्र्य सब वैखरी का रूप है।

जिन चार प्रकार के वाक् की चर्चा की गई, उन्हीं से मूल त्रिकोण या महा-योनि का स्फुरण होता है। शान्ता और अम्बिका का सामरस्य या परामातृका इस त्रिकोण का मध्यबिन्दु है। यह स्पन्दमय है। पश्यन्ती इसकी वामरेखा, वैखरी दक्षिण-रेखा और मध्यमा सरल अग्ररेखा है। मध्य का महाबिन्दु ही अभिन्न विग्रह शिव-शक्ति का आसन है। यह त्रिकोणमण्डल चित्कला की आभा से उज्ज्वल होता है। इसके बाहर क्रमविन्यस्त रूप में शाम्भवीतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा एवं निवृत्ति-कला

का सब आभामय स्तर अवस्थित हैं। इन सारे स्तरों की समष्टि ही विश्व के नाम से परिचित है। लिहाजा, भूपुर से महाबिन्दु तक फैला सारा विश्वचक्र ही उस महाशक्ति का विकास है। मध्य त्रिकोणबिन्दु विसर्गमय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसकी प्रत्येक रेखा पंचस्वरमय है। अ से अं तक पंचदश स्वरात्मक इस त्रिकोण-मण्डल का विन्दुस्थान विसर्गकला (अः) से आक्रान्त है। इस त्रिकोण के स्पन्दन से अष्टकोण कल्पित होता है। अष्टकोण रौद्रीशक्ति का रूप है। यह शान्त्यतीत कला की प्रभा से उज्ज्वल है। प्रत्येक स्तर ही प्रकाश और विमर्शमय है—अर्थ और शब्द-मय है। उन-उन वर्णों (वाचक) और उन-उन तत्त्वों (वाच्य) का तादात्म्य उन-उन चक्रांशों में अनुभूत होता है। पूरे चक्र में अकारादि क्षकारान्त वर्णमाला और शिव आदि पृथिव्यन्त तत्त्वनिचय अभिव्यक्त होता है। साधक जब कुण्डलिनी के सुप्तिभंग के बाद ऊपर उठने लगता है अथवा इष्ट-देवता के स्वरूपात्मक चक्र में प्रवेश करना आरम्भ करता है, तो वास्तव में इस विश्वचक्र में ही प्रवेश करके चलता रहता है। अकुल से महाबिन्दु तक फैले महापथ में जो सब अवान्तर चक्र हैं, उनकी समष्टि ही विश्वचक्र है। इसमें अकुल से आज्ञाचक्र तक अंश स-कल, आज्ञा-चक्र के ऊपर बिन्दु से उन्मना तक अंश सकल-निष्कल और उन्मना के बाद महाबिन्दु-अंश निष्कल है। वास्तव में यह महाबिन्दु ही विश्व का हृदय है। यही विश्वातीत परमेश्वर या शिवशक्ति का आविर्भाव-स्थान या आसन है।

महाबिन्दु ही वास्तव में शवरूपी सदाशिव हैं, जिन पर चित्कला या चित्-शक्ति स्वातन्त्र्यमयी रूप में खेला करती हैं। यह खेल परावाक् या परामातृका का विलास है। शुक्ल और रक्तबिन्दु-रूप प्रकाश तथा विमर्शात्मक कामकलाक्षर के परस्पर संघट्ट के द्वारा चित्-कला की अभिव्यक्ति होती है। महाबिन्दु के स्पन्दन के कारण विलीन बिन्दुत्रय विश्लिष्ट होकर रेखारूप धारण करके महात्रिकोण के रूप में परिणत होता है। इसके बारे में पहले कहा जा चुका है। यहाँ से शिव आदि छत्तीस तत्त्वमय विश्व का स्फुरण होता है।

इस महात्रिकोण के चार पीठ हैं। प्रत्येक पीठ में ही विश्व का रूप भासमान होता है—स्वरूप में बीजभाव से और बाहर सृष्टि-रूप में। पीठ से प्रकाशमात्रा और विमर्शमात्रा का सामरस्य समझना होगा; जैसे, कामरूप-पीठ। यह अम्बिका और शान्ताशक्ति का सामरस्य है। यह पीठ चतुरस्ररूप में आधारस्थान में विराजमान है। इसी का दूसरा नाम मन है। इसमें बिन्दु-चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी को स्वयम्भूलिंग कहते हैं। वास्तव में यह पीठ महात्रिकोण का अग्रकोण-स्वरूप है। इस प्रकार त्रिकोण के दूसरे दो कोण पूर्णगिरि और जालन्धर-पीठ के नाम से प्रसिद्ध हैं और वहाँ का प्रतिफलित चैतन्य इतरलिंग या बाणलिंग के नाम से परिचित है। ये दोनों बुद्धि और अहंकार के

नामान्तर हैं और देह में इनका स्थान हृदय और भ्रू-मध्य है। मध्यबिन्दु उड्डीयान या श्रीपीठ अर्थात् चित्स्वरूप है। वहाँ जो ज्योति प्रतिबिम्बित होती है, उसी का नाम परलिंग है। प्रत्येक लिंग निश्चित संख्यक वर्ण से आवृत है, परन्तु परलिंग सर्ववर्णावृत है। यही परमलिंग ही परमपद से प्रथम स्पन्दरूप में उदित होता है।

[पन्द्रह]

तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि शिवशक्ति-यामल का अहंपरामर्श पूर्ण और स्वाभाविक है। यही पूर्णाहन्ता नाम से प्रसिद्ध है। यह निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप है, विकल्पात्मक नहीं। स्वातन्त्र्यवशतः इसमें विभाग आभासमान होता है। यह पराहन्ता या परावाक् विभक्त दशा में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये तीन रूप धारण करता है। इसके प्रत्येक में स्थूल, सूक्ष्म और परभेद से तीन भेद हैं। परमतत्त्व यद्यपि निरंश प्रकाश-स्वरूप है, फिर भी उसकी मुख्य तीन शक्तियों के भेद से यह विभाग उत्पन्न होता है। तीन शक्तियाँ हैं—परा या अनुत्तरा या चित्-शक्ति, परापरा या इच्छाशक्ति, अपरा या उन्मेषरूप ज्ञानशक्ति। इन तीनों के मेल से परमेश्वर की पूर्ण शक्ति है। वह आगम में (परंमहः) नाम से प्रसिद्ध है। इनमें अनुत्तर या चित्-शक्ति 'अ', इच्छाशक्ति 'इ' और उन्मेष या ज्ञान-शक्ति 'उ' है। यही शक्तित्रय ही 'अ इ उ' नामक त्रिकोण है। इनके क्षुब्ध रूप को लेकर छह शक्तियाँ होती हैं, 'अ' के क्षोभ से 'आ', 'इ' के क्षोभ से 'ई' और 'उ' के क्षोभ से दीर्घ 'ऊ'। 'आ'—आनन्द, ई—ईशान और 'ऊ' को ऊर्मि या ऊनता समझना होगा। आनन्द आदि शक्तियाँ क्षुब्ध होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होतीं, इसलिए मलिन नहीं होती। इसलिए ये भी आपसी संघर्षण से शक्त्यन्तर प्रकट करने में समर्थ होती हैं। ये छह स्वर ही वर्ण-सन्तति के मूल हैं। ये षड्देवता और सूर्य की मुख्य षड्रश्मि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन छह शक्तियों का परस्पर संघट्ट ही क्रियाशक्ति है, जिससे द्वादश शक्तियों का विकास होता है (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ—ये चार क्लीव स्वर कहे जाते हैं)। सारी शक्तियाँ इन बारह शक्तियों के ही अन्तर्गत हैं। ये ही मुख्य शक्तिचक्र हैं। इनसे समन्वित शिव को ही पूर्णशक्ति कहा जाता है। कौलों में बहुतेरे लोग इन बारह शक्तियों का द्वादश कालिका के रूप में वर्णन करते हैं। श्रीसार शास्त्र में इनका नाम रखा गया — द्वादश योगिनी।

ये सारी शक्तियाँ, शुद्ध और उद्रिक्त चैतन्य हैं—इनकी दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति का कोई आवरण नहीं है। चौंसठ योगिनी या शक्तिचक्र इन मुख्य बारह से ही उद्भूत हुए हैं। इन बारह शक्तियों की समष्टि का नाम अघोरशक्ति है। घोरा और अघोरा शक्ति इनसे उद्भूत होते हुए भी इनसे भिन्न हैं।

सृष्टि आदि क्रम से इन बारह शक्तियों के अलग-अलग रूप हैं। अनाख्या क्रम से भी अलग-अलग रूप का पता चलता है। जिस क्रम में सृष्टि आदि उपाधि नहीं है, उसी को अनाख्या कहते हैं यानी निरुपाधिक सृष्टि में भी यह विभाग है, यही अभिप्राय है।

जिस स्वरूपगत उपाधिहीनता की चर्चा की गई, वह दो प्रकार से सम्भव होती है—(क) उपाधियों के अनुल्लासवश या (ख) उपाधियों के उपशमवश। उपाधि के पाक से ही उपशम होता है। तान्त्रिकगण दो प्रकार का पाक मानते हैं—मधुरपाक और हठपाक। जो लोग गुरु, देवता आदि की आराधना करके समयी आदि दीक्षा सम्पन्न करके नित्य-नैमित्तिक कर्मों में निष्ठावान् रहते हैं, वे लोग देहान्त में सृष्टि आदि उपाधि से मुक्ति पाते हैं। सृष्टि आदि उपाधि का उपशम स्वाभाविक नहीं है, शास्त्र आदि के उपदेश-सापेक्ष हैं। ये उपाय ही धीरे-धीरे देहान्त में उपाधि-नाश में समर्थ होते हैं। परमेश्वर का शक्तिपात तीव्र के बजाय मन्दमात्रा में होने से ऐसा होता है। लेकिन जिनपर भगवत्-कृपा तीव्र मात्रा में संचारित होती है, वे मात्र एक बार उपदेश पाकर ही मुक्ति-लाभ करते हैं। इस क्रम में सृष्टि आदि उपाधित्रय चिदग्नि में भस्मीभूत हो जाती है यानी अचित् भाव का त्याग करके आत्मशक्ति के स्फुरण रूप में प्रतिभात होती है। ज्ञान आदि के उद्दीपन के बाद इस पाकक्रम में सृष्टि आदि पदार्थगत भेद विगलित हो जाता है। उस समय विश्व अमृतसात् होता है अर्थात् बोध से तादात्म्य होता है। इस अमृतरूप विश्व को पूर्ववर्णित शक्तिचक्र अर्थात् 'अ' आदि बारह सम्वित्ति-देवी या कररोश्वरी भोग करती हैं अर्थात् परबोध के साथ अभेद से परामर्शन करती हैं। क्योंकि वे सारी शक्तियाँ अघोरा-शक्ति का प्रकाश हैं। इस भोग के द्वारा ही वे शक्तियाँ या देवी तृप्त होती हैं। उस समय उनमें अन्य के प्रति अपेक्षा-भाव नहीं रहता। इसके फलस्वरूप हृदयस्थ परम प्रकाशात्मक स्वरूपभूत परम तत्त्व से अभेद का स्फुरण होता है। ये शक्तियाँ परमेश्वर के स्वरूप में विश्रान्त हैं, इसलिए उनसे अभिन्न हैं। फिर भी इस अभेद के बावजूद कृत्य, क्रियावेश, नाम और उपासना के भेद से ये भिन्न रूप में आभासमान होती हैं। इन शक्तियों में संकोच और विकास दोनों ही हैं। इसलिए संख्या में बारह होते हुए भी ये एक ओर जैसे सब मिलकर एकाकार हो सकती हैं, दूसरी ओर वैसे ही करोड़ों भी हो सकती हैं।

सम्प्रदाय

[एक]

प्राचीन काल में बहुत-से तान्त्रिक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इनमें से सभी सम्प्रदाय साहित्यिक दृष्टि से समान समृद्ध थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी सम्प्रदाय के साथ संश्लिष्ट साधना-तत्त्व-विषयक ग्रन्थ आदि उपलब्ध होते हैं और किसी-किसी सम्प्रदाय का केवल नाम ही मिलता है। उनकी साधना और दृष्टिभंगी का विवरण किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। तान्त्रिक साहित्य के इतिहास के संकलन से सम्भवतः यह कमी किसी हद तक दूर होगा, ऐसी आशा है।

ये सभी सम्प्रदाय किसी-न-किसी प्रकार से शक्तिवादी थे, इसमें सन्देह नहीं है। मगर यह शक्तिवाद सबका ठीक एक-जैसा नहीं था। क्योंकि शैव, पाशुपत आदि सम्प्रदाय-भेद में शक्ति का स्वरूप शिव से इसका सम्बन्ध विभिन्न रूप में लिया गया है। ये सब विभिन्न सम्प्रदाय साधारणतया शैव-सम्प्रदाय अथवा माहेश्वर सम्प्रदाय अथवा तान्त्रिक सम्प्रदाय—ऐसे किसी नाम से प्राचीन साहित्य में वर्णित हैं। ऐसे कुछ सम्प्रदायों के नाम दिये जा रहे हैं—

१. कुल-मार्ग या कौलमत	९. कालानल-मत
२. पाशुपत-मत	१०. कालामुख-मत
३. लाकुल-मत	११. भैरव-मत
४. कापालिक-मत	१२. वाम-मत
५. सोम-मत	१३. भट्ट-मत
६. महाव्रत-मत	१४. नन्दिकेश्वर-मत
७. जंगम-मत	१५. रसेश्वर-मत
८. कारुणिक या कारुकमत	१६. सिद्धान्त-मत (शैव)

१७. सिद्धान्त-मत (रौद्र)

तन्त्रों के अवतरण के सम्बन्ध में चर्चा करने से यह पता चलता है कि आगम के प्रचार-प्रसंग में अद्वैत आदि त्रिविध मार्ग का दुर्वासा द्वारा पुनः प्रवर्त्तन हुआ था। इन तीन मार्गों से संश्लिष्ट तीन मठ प्राचीन काल में प्रसिद्ध थे। इनके सिवाय एक चौथे मठ का भी पता चलता है, वह कामरूप-पीठ से सम्पृक्त था। प्राचीन ग्रन्थों में इसे 'तुरीय सन्तति' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इसीलिए 'मच्छन्द्र' अर्थात्

मत्स्येन्द्रनाथ को 'तुरीयनाथ' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस मार्ग ने कुल-मार्ग, कौलमार्ग, अतिमार्ग, कालीनय, अर्द्धत्र्यंबक-मार्ग आदि नाम से प्रसिद्धि पाई है। तान्त्रिक साहित्य का विवरण देने से पहले इस सुप्रसिद्ध कुलाचार या कौलमार्ग के बारे में कुछ चर्चा की जा रही है।

साधारण तौर पर जिस गुरु-परम्परा का परिचय प्राप्त होता है, उसमें मार्ग-प्रवर्त्तक के रूप में आदिगुरु भैरव या स्वच्छन्द भैरव (शिव का ही दूसरा नाम) का नाम पाया जाता है। किन्तु हम कुलमार्ग-रूप में जिस धारा का निर्देश कर रहे हैं, वह पूर्वोक्त धारा से भिन्न है। क्योंकि, इस धारा में आदिगुरु के रूप में भैरवी को माना गया है, भैरव को नहीं। भैरवी-प्रवर्त्तित यह सन्तान कौल-सम्प्रदाय के नाम से बाद में प्रसिद्ध हुई।

भैरवी से अवतरित होकर महाज्ञान भैरव अथवा स्वच्छन्द में स्थित होता है। उसके बाद अवरोह-क्रम में मत्स्येन्द्रनाथ तक उतर आता है। यह मत्स्येन्द्र मीन-सिद्ध नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कामरूप-पीठ के अधीश्वर थे और तुर्यनाथ के नाम से तान्त्रिक-मण्डल में परिचित थे। मत्स्येन्द्रनाथ की शिष्य-परम्परा में बहुत दिनों के बाद सुमतिनाथ नाम के दक्षिण-पीठ के एक सिद्ध पुरुष गुरुपद पर अधिष्ठित थे। सुमतिनाथ के शिष्य सोमदेव थे, जो कुलमार्ग या अतिमार्ग के उपदेष्टा थे। सोमदेव के शिष्य थे शम्भुनाथ। इन्होंने जालन्धर-पीठ से ख्याति पाई। कहीं-कहीं उन्हें साक्षात् रूप में सुमति का भी शिष्य कहा गया है (जयदेव-तन्त्रालोक-टीका १।२४३)।

शम्भुनाथ के शिष्य हुए जगत्प्रसिद्ध महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त। अभिनव-गुप्त के कौलगुरु शम्भुनाथ थे, जिनके बारे में अपने ग्रन्थ में बहुत स्थानों पर उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ बहुत-सी बातें कही हैं। शम्भुनाथ की दूती थीं भगवती नाम की कोई सिद्ध रमणी। अभिनवगुप्त ने दूती के साथ अपने कौलगुरु को 'तन्त्रालोक' में नमस्कार किया है (तन्त्रालोक-टीका, १।२१३)। शम्भुनाथ असाधारण शक्तिशाली पुरुष थे। अभिनवगुप्त ने शम्भुनाथ को 'जगदुद्धरणक्षम' कहा है। इससे यह समझ में आता है कि अभिनवगुप्त अपने गुरु को किस दृष्टि से देखते थे।

कौलमार्ग के सम्बन्ध में पण्डित-समाज में और साधारण लोगों में भी दो मत प्रचलित हैं। एक मत से कौल-साधना ही अध्यात्म-साधनाओं में श्रेष्ठ है। दूसरे मत से यह बहुत ही निकृष्ट और जघन्य है। कुलार्णवतन्त्र में द्वितीय उल्लास में सात प्रकार के आचारों में कौलाचार को सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। इस मत से वेदाचार से आरम्भ करके कौलाचार में अध्यात्म-साधना का चरम उत्कर्ष सूचित होता है—'कौलात् परतरं नहि'। विश्वसारतन्त्र के चौबीसवें पटल में भी यही बात पाई जाती है। उसके अनुसार सात आचार तीन भावों के अन्तर्गत हैं। उनमें से पशुभाव

ही पहला भाव है। वेद, वैष्णव, शैव और दक्षिण—ये चार आचार इस भाव से प्रतिष्ठित हैं। वाम, सिद्धान्त और कौल—ये तीन आचार वीर और दिव्य भाव में संस्थित हैं। विश्वसारतन्त्र में है कि कुलधर्म-साधन में दिक्-काल का नियम नहीं है, विधि-निषेध का मूल्य नहीं है, और भी किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं। इसमें और भी कहा गया है—

कौल एव गुरुः साक्षात् कौल एव सदाशिवः।
कौलः पूज्यतमो लोके कौलात् परतरो नहि॥
कर्दमे चन्दने देवि पुत्रे शत्रौ प्रियेऽप्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथैव काञ्चने तृणे (?)
न भेदो यस्य देवेशि स एव कौलिकोत्तमः॥
चिन्तयेदात्मनात्मानं सर्वत्र समदृष्टिमान्।
व्याधृतिक्षमायुक्तः स ज्ञेयः कौलिकोत्तमः॥
जप पूजा होमरतो वीराचार परायणः।
आरुरुक्षुर्ज्ञानभूमिं स कौलः प्राकृतो मतः॥
करिपदे निमज्जन्ति सर्वे प्राणिपदा यथा।
कुलधर्मे निमज्जन्ति सर्वे धर्मास्तथा प्रिये॥

प्रसंगतः यह जानना जरूरी है कि पशुभाव भेदभाव है, वीरभाव भेदाभेद-भाव एवं दिव्यभाव अभेदभाव है। कौलधारा में अवान्तर विभाग है। तान्त्रिक साधना में सभी कौलधर्मी नहीं। तान्त्रिक सम्प्रदाय में भी कोई-कोई कौल, कोई-कोई कौल-विरोधी हैं, ऐसा देखा जाता है। कौल-साहित्य में पूर्णसाधना का जो चित्र है, विरुद्धवादियों की रचना में ठीक वह चित्र नहीं मिलता।

कौल-साधना के उपजीव्य बहुत-से ग्रन्थों में से कुछ के नाम यहाँ दिये जा रहे हैं—

कुलार्णव, कुलचूडामणि, रुद्रयामल, भावचूडामणि, देवीयामल, कुलपञ्चामृत, उत्तरतन्त्र, कुलतन्त्र, कुलामृत, तन्त्रचूड़ामणि, कुलयामल, कुलगह्वर, कुलदीपनी, कुलपञ्चाशिका, कुलप्रकाश, कुलमत, कुलमूलावतार, कुलमन्त्र-मातृकासाहस्रिक, कुलरत्नमाला, कुलरत्नमालिकासाहस्रिका, कुलप्रदीप, कुलार्णव-महारहस्य, मेरुतन्त्र (इसमें वाम और दक्षिण दोनों मार्ग का उपदेश है), कुलरत्नावली, कुलशासन, कुलसंग्रह, कुलसर्वस्व, कुलसार, कुलागम, कुलानन्द-संहिता, कुलाम्नाय, कुलालिकाम्नायतन्त्र, कुलावतार, कुलेश्वर, कुलोड्डीश, कुलोत्तम, कौलतन्त्र, कौलमार्ग, कौलरहस्य, रजस्वलातत्त्व, कौलिकार्चन-दीपिका, कौलालवीय, कौला-दर्शतन्त्र, रहस्यार्णव, श्रीतत्त्वचिन्तामणि, शाम्भवीतन्त्र, दक्षिणामूर्त्ति-संहिता,

परमानन्दतन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, वामकेश्वर-तन्त्रराज, कौलोपनिषत्, त्रिपुरा महोपनिषत्, सुन्दरीतापनी, गुह्योपनिषत्, आगमसार, परशुराम-कल्पसूत्र आदि।

कुल प्रदीप में है कि जिन ग्रन्थों में सदाशिव ने कुलमार्ग का वर्णन किया है, कलियुग में वे नहीं मिलते, इसलिए उनका वास्तविक ज्ञान भी दुर्लभ है। और भी कहा है—

गुरोः कृपा यस्य भवेत् प्रभूता
श्री देवतायाश्च महान् प्रसादः।
तस्यैव पुंसः कुलशास्त्रबोध-
स्तस्यात्र भक्तिर्न खलापनोद्या॥
येषां दृढा भक्तिरिहास्ति शास्त्रे
विदन्ति सम्यक सकलं रहस्यम्।
प्राग्जन्मपुण्याद् विमला मनीषा
ते निन्दका नास्य भवन्ति लोकाः॥
भिन्ना पशुभ्यो निजगोपनार्थं
निन्दन्ति केचित् कुलशास्त्रमेतत्।
केचित् निन्दानिरता अबोधा
दौष्ट्येन ये ते निरये निवस्तुम्॥

[दो]

कुलाचार क्या है? सेतुबन्धकार कहते हैं कि परशुराम-कल्पसूत्र में 'व्यवहार देशास्वात्मात्' आदि से 'परेतु शास्त्रानुशिष्टाः' तक जो आचार वर्णित है, वही कुलाचार है।

कौलज्ञान की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कहा गया है कि शैव, वैष्णव, दौर्ग, आर्क और गाणपत्य आदि मन्त्र द्वारा चित्त शुद्ध होने से तब कहीं कौल-ज्ञान पैदा होता है। शास्त्र में है—

पुराकृतत्पोदानयज्ञतीर्थजपव्रतैः।
शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः।
अतिगुप्तस्य भक्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते॥ (सेतुबन्ध, पृ० २५)

कौलों के विषय में प्रसिद्धि है—

अन्तःशाक्ता बहिःशैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः ।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥ (मन्त्रमहोदधि)

किन्तु कश्मीरी हक्वादियों की दृष्टि में क्रमोत्कर्ष—देवादि < शैव < वाम < कौल < त्रिक इस प्रकार से वर्णित हुआ है—

देवादिभ्यः परम् शैवं शैवाद्वामं तु दक्षिणम् ।
दक्षिणात् प तः कौलं कौलात् परतरं त्रिकम् ॥

(विज्ञानभैरव, क्षेमराज, पृ० ४)

सौन्दर्यलहरी की टीका में लक्ष्मीधर ने बहुत जगह कौलों की निन्दा की है। उनके मत से कौलमत अप्रामाणिक और अवैदिक है। भट्टोजिदीक्षित ने तन्त्र के प्रामाण्य का खण्डन करके एक ग्रन्थ की रचना की थी। उनके गुरु अप्पयदीक्षित ने भी त्रिपुरा-महोपनिषद् की व्याख्या में कौलमार्ग पर कटाक्ष किया है।

शुभागमपञ्चक के अन्तर्गत सनत्कुमार-संहिता में जिन छह वेदबाह्य और बाह्यपूजारत तान्त्रिक सम्प्रदायों का नाम गिनाया गया है, उनमें कौल-सम्प्रदाय ही प्रथम है। बाकी पाँच के नाम हैं—क्षपणक, कापालिक, दिगम्बर, इतिहास तथा वामक। ये केवल चक्रपूजक हैं।

कौलमत के बारे में लक्ष्मीधर कहते हैं—इस मत में बिन्दु का स्थान त्रिकोण अर्थात् आधार-चक्र है। यहीं बिन्दु की आराधना करनी चाहिए। कौलगण त्रिकोण में नित्यबिन्दु की अर्चना करते हैं। यह त्रिकोण दो प्रकार का है। यह श्रीचक्र के अन्तर्गत नवयोनि के बीच का त्रिकोण हो सकता है या प्रत्यक्ष स्थूल त्रिकोण भी हो सकता है। पूर्व कौलगण पहले की भूर्ज हेमपट्ट पीठादि में अंकित करके पूजा आदि करते हैं, उत्तर कौलगण दोनों की ही पूजा करते हैं। इनमें दोनों ही बाह्य हैं, आन्तर नहीं। इसलिए कौलों का आधारचक्र ही और उस चक्र में स्थित कुण्डलिनी-शक्ति ही पूजा का विषय है। कुण्डलिनी को ही कौलिनी कहते हैं। वही त्रिकोण-पूजकों के मुख्य उपास्य हैं।

यह कुण्डलिनी-शक्ति बिन्दुरूप है। निद्रावस्था में ही इसकी पूजा की जाती है। यह स्वभावतः सदा निद्रामग्न रहती है। इसके जागरण का क्षण ही कौलों की परिभाषा में मोक्षपद-वाच्य है। इसीलिए कौलों को क्षणमुक्त कहते हैं। वामाचार आदि में पूजा में सुरा, मांस आदि का उपयोग होता है। दिगम्बर, क्षपणक आदि सम्प्रदाय का आराधनाक्रम इससे कुछ भिन्न है, किन्तु इसीके अनुरूप है।

[तीन]

पूर्व और उत्तर—कौलमत दो प्रकार का है। लक्ष्मीधर कहते हैं कि इन दो मतों का विवरण सौन्दर्यलहरी के ३४ और ३५वें श्लोक में दिया गया है। इसके बाद ३६ से ४१ तक में समय-मत का निरूपण किया गया है।

पूर्व कौलमत में भगवती आनन्दभैरवी हैं। यह भगवान् शिव या आनन्द-भैरव की देह-स्वरूप हैं। सूर्य और चन्द्र—ये दो इनके स्तन हैं और इनकी आत्मा हैं नवात्मक शम्भु। शम्भु या आनन्दभैरव नवव्यूहात्मक हैं। शेषशेषिभाव दोनों में साधारण अर्थात् जब शिव शेषी होते हैं, तो शक्ति शेष होती हैं और जब शक्ति शेषी होती हैं, तो शिव होते हैं शेष। इस शेषशेषिभाव में ही समरस परानन्द और परा का सम्बन्ध समझना होगा। पहले उल्लेख किये गये नौ व्यूह ये हैं—

(१) कालव्यूह—निमेषादि कलान्त अवच्छिन्न काल की धारा को कालव्यूह कहते हैं। सूर्य और चन्द्र काल-अवच्छेदक हैं, इसलिए इसी के अन्तर्गत हैं।

(२) कुलव्यूह—यह नीलादि रूप है।

(३) नामव्यूह—यह संज्ञास्कन्ध का ही नामान्तर है।

(४) ज्ञानव्यूह—इसे विज्ञानस्कन्ध भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम है भागव्यूह। 'सभाग' शब्द का अर्थ है 'विकल्प' और 'विभाग' शब्द का अर्थ है 'निर्विकल्प'।

(५) चित्तव्यूह—अहंकार, चित्त, बुद्धि, महत् और मन—इसी अहंकार-पञ्चस्कन्ध को चित्त कहते हैं।

(६) नादव्यूह—राग, इच्छा, कृति—प्रयत्न-स्कन्ध इस प्रसंग में आलोचनीय है, मातृका के चार रूप नादव्यूह के अन्तर्गत हैं। उनमें से परावाक् उसी को कहते हैं, जिसका रूप अन्तःकरण में ऊह या तर्क के साथ स्फुरित होता है। योगी सिर्फ युक्तावस्था में इसका परिचय पाते हैं। कामकला-विद्या में इसीको परा-माहेश्वरी कहा गया है। यह परावाक् जब अपेक्षा-कृत स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होता है, तो उसका नाम पश्यन्ती होता है। वैसे में यह त्रिमातृकात्मक होकर चक्ररूप धारण करता है—'स्पष्टा पश्यन्त्यादि—त्रिमातृकात्मा चक्रतां यातां'। त्रिमातृका से त्रिखण्ड-युक्त पञ्चदशाक्षरी मातृका समझना चाहिए। यही चक्ररूप में परिणत होती है। इस पश्यन्ती वाक् का युक्त अवस्था में बहुत सूक्ष्म रूप में अनुभव किया जाता है। परा और पश्यन्ती—इन दो से मध्यमा वाक् का उदय

होता है। इसके दो भेद हैं—सूक्ष्म और स्थूल। वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका—इन चार शक्तियों की जो समष्टि-अवस्था है, वही सूक्ष्मा मध्यमा है; इनकी जो व्यष्टि-अवस्था है, वही स्थूला मध्यमा है। वामादि चारों शक्तियाँ श्रीचक्र के अन्तर्गत ऊर्ध्वमुख योनि-स्वरूप हैं। इस नवव्यूहात्मक शक्ति-वर्ग के कारण भगवती को नवात्मक कहते हैं। इसके प्रकार इस तरह दिखाये जा सकते हैं—

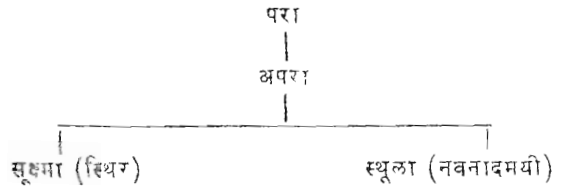

(७) बिन्दुव्यूह—यह षट्चक्र संघ का ही नामान्तर है।

(८) कलाव्यूह—यह वर्णात्मक पचास कलाओं का समूह है।

(९) जीवव्यूह—यह भोक्तृवृन्द का नामान्तर है।

भोक्ता, भोग और भोग्य रूप में ये नौ व्यूह तीन प्रकार के हैं। भोक्ता है—आत्मव्यूह, भोग—ज्ञानव्यूह और भोग्य-कालव्यूह आदि सब। सारे ही व्यूह जीवव्यूह के सर्वत्र अन्वययुक्त हैं। इसलिए सर्वत्र ऐक्य है। बिन्दुव्यूह में ज्ञानव्यूह का तादात्म्य है, इसलिए वहाँ भी ऐक्य है। कालव्यूह अवच्छेद है, इसलिए वहाँ भी ऐक्य है। कुल और नामव्यूह निरूपक हैं, इसलिए वहाँ भी ऐक्य है। नाद और कला चूँकि एक हैं, इसलिए परमेश्वर नवव्यूहात्मक है। इसीलिए भैरव और भैरवी में नौ प्रकार का ऐक्य अंगीकृत होता है। यही कौलमत है। कौलमत में इसलिए परमेश्वर नवात्मक हैं। कौलगण कहते हैं—

नवव्यूहात्मको देवः परानन्दपरात्मकः।
नवात्मा भैरवो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः॥
परानन्द पराशक्तिश्चिद्रूपानन्द भैरवी।
तयोर्यदा सामरस्यं सृष्टिरुत्पद्यते तदा॥

आनन्दभैरव और परा, दोनों में तादात्म्य है। दोनों ही समान रूप से नवात्मक हैं। लेकिन शेषाशेषी भाव की जो बात कही गई, वह आपेक्षिक है। सृष्टि आदि में जब दोनों का प्रयत्न उत्पन्न होता है, तो भैरवी की प्रधानता के कारण महाभैरवी प्रधान, प्रकृति आदि शब्द की वाच्य होती हैं। उनकी यह प्रधानता ही शेषित्व है। आनन्दभैरव उस समय अप्रधान होते हैं, शेष गौण। सर्ग-उपसंहार के समय प्रकृति

तन्मात्र में अवस्थित होती है और भैरवी स्वात्मा में अन्तर्भूत होती हैं। उस समय भैरव होते हैं शेषी, भैरव शेष। संहारकाल में कार्य-कारण के उपसंहार के बाद स्वयं कारणरूप में स्थिति होती है। यही है पूर्व-कौलमत का सारांश।

उत्तर-कौलगण कहते हैं, प्रधान ही जगत्कर्त्तृ है। प्रधान होने के नाते उनका शेषभाव नहीं होता; क्योंकि इस दृष्टि में शिव नहीं। वह तो पंचतत्त्व रूप में परिणत हो गये हैं। मनस्तत्त्वादि रूप में प्रधानात्मिका शक्ति का ही परिणाम होता है। तत्त्ववर्ग स्वरूप परिणाम है। शक्ति जब कार्य-रूप समस्त प्रपंचों को अपने में आरोपित कर कारणरूप में अवस्थान करती हैं, उस समय उनकी संज्ञा होती है आधार-कुण्डलिनी। संक्षेप में यही पूर्व-कौलमत से उत्तर-कौलमत की विलक्षणता है।

[चार]

लक्ष्मीधर ने कौलमत पर जो विरुद्ध समालोचना या आक्षेप किया है, उसके उत्तर में भास्कर राय ने 'सेतुबन्ध' (पृ० २४) में कहा है, ये बातें भ्रान्तिमूलक या प्रतारणामात्र हैं। उन्होंने इसलिए इस समालोचना को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। किसी-किसी तन्त्र में कौलधर्म की जो निन्दा देखी जाती है, उसे उस-उस तन्त्र का स्तुतिमात्र समझना चाहिए। तन्त्राचार्यगण ऐसा ही कहा करते हैं। क्योंकि कौलग्रन्थ में ही इस भाव के समर्थक शिव के वचन या शिवोक्ति मिलती है। जैसे—

पशुशास्त्राणि सर्वाणि मयैव कथितानि हि।
मूर्त्तान्तरं तु संप्राप्य मोहनाय दुरात्मनाम्॥
महापापवशान्नृणां तेषु वाञ्छाऽभिजायते।
तेषां हि सद्गतिर्नास्ति कल्पकोटिशतैरपि॥

असल बात यह है—कौल-उपासना चरम भूमि है। इसके अधिकारी एकान्त दुर्लभ हैं। इसलिए अधिकारी हुए बिना शास्त्रविहित कर्म में प्रवृत्त होने से विरुद्धाचार अवश्यम्भावी है। इसीलिए उन शास्त्रों की निन्दा की जाती है। अधिकारी होने पर भी अति रहस्य विषय में जिसमें साधारणतः किसी की प्रवृत्ति न हो, यही निन्दा का कारण है। इसीलिए कुलार्णव में देखने में आता है—

कुलमार्गरतो देवि न मया निन्दितः क्वचित्।
आचाररहिता येऽत्र निन्दितास्ते न चापरे॥
(सेतुबन्ध, पृ० २५)

अन्यत्र भी है—

कुलधर्ममिमं ज्ञात्वा मुच्येयुः सर्वमानवाः ।
इति मत्वा कुलेशानि मया लोके विगर्हितम् ।।

....

प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि दूती के बिना कुल-प्रक्रिया में किसी कर्म में अधिकार नहीं होता । प्रसिद्धि है, पुरुष के लिए जिस सिद्धि को प्राप्त करने में एक वर्ष का समय लगता है, तत्त्वनिष्ठा स्त्री के लिए उसे पाने में बारह दिन से ज्यादा समय की जरूरत नहीं होती । इसलिए नियम है—

अतः सुरूपां सुभगां सुरूपां भावितात्मयाम् ।
आदाय योषितं कुर्यादर्चनं यजनं हुतम् ।।

(तन्त्रालोकटीका, १।१३)

[पाँच]

कौल-सम्प्रदाय की एक शाखा का नाम है सांसारिक कुलाम्नाय । इसके प्रवर्त्तक थे अल्लट या भावरक्त, जो विश्वरूप नाम के एक पाशुपत साधु के शिष्य प्रशस्त के अन्तेवासी थे । यह विश्वरूप पञ्चार्थ लाकुलाम्नाय सम्प्रदाय के गुरु थे । इस गुरु-शिष्य-सम्बन्ध से ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपत और कौल-सम्प्रदाय में घनिष्ठ सम्बन्ध था । कौलाचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरक्षनाथ को साधारणतः पाशुपत कहकर सम्मान किया जाता है, यह इस प्रसंग में स्मरणीय है ।

सिद्ध योगीश्वरी-मत की धारा लकुलीश के बीच से उनके शिष्य अनन्त और अनन्त के शिष्य गहनेश या गहनाधिपति द्वारा संचालित हुई थी । सिद्ध योगीश्वरी-मत के आचार्य-क्रम के बारे में तन्त्रालोक (आह्निक १२, पृष्ठ ३८३) में है—

भैरव
|
भैरवी
|
स्वच्छन्द
|
नाकुल
|
अनन्त
|
गहनेश

पूर्वोक्त विश्वरूप अनन्तगोत्र के थे, यह पता चलता है। (Dr. V S. Pathak : 'Saivism in Early Medieval India', p. 28)

राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' (१।२३) में कौलसाधना और कौल भैरवानन्द का प्रसंग है। उसमें कौलमत की कोई निन्दा नहीं है। पता चलता है कि भैरवी या भैरवचक्र में कौलगण शक्ति की उपासना के लिए एकत्र होते थे। उस समय उनमें जातिभेद नहीं रहता था। प्रत्येक उपासक को तत्काल स्थायी विवाह करना पड़ता था और कुलांगना-रूप में जिन्हें ग्रहण किया जाता था, वे ज्यादातर समाज की नीची जातियों की होती थीं, जैसे धोबिन, नाईन, नाचवाली आदि।

'गुह्यसमाज' (सन् ३००—४००ई०) में प्रज्ञाभिषेक की बात है। उसमें भी है कि अभिषेककर्त्ता गुरु ही शिष्य के तत्कालोचित विवाह के लिए घटक का काम करते थे। वह योगाभ्यासरता शक्ति को हाथ में लेकर शिष्य के हाथ में स्थापित करते थे। इस विवाह में ब्राह्मण आदि चार वर्णों के अलावा चण्डालिन, धोबिन, नटी जातीय कन्याओं का भी समुचित स्थान था। इस अनुष्ठान में सभी प्रकार के मांस का व्यवहार होता था—हाथी, घोड़ा, गाय आदि। ('गुह्यसमाज', Introduction, p. 12 & Chap. XV)।

'रत्नत्रय' (पृ० १४) में श्रीकण्ठ ने कहा है—वेदान्त और कुलाम्नाय में जिस चिति को आनन्दोपचिता कहकर वर्णित किया गया है, वह आनन्द विप्रलब्ध अपरिणत मल लोगों की बात है। श्रुति में जहाँ आनन्द शब्द का प्रयोग है, उसका वास्तविक अर्थ 'परिपूर्ण' है, सुख नहीं। जो सौभाग्यशाली पुरुष शक्तिपात के प्रभाव से शिव-अनुगृहीत हैं, वे आनन्द को पूर्णता ही मानते हैं, भोग की वस्तु नहीं समझते। यहाँ टीकाकार अघोर शिवाचार्य ने 'कुलाम्नाय' शब्द से शाक्त आदि सम्प्रदाय का अभिप्राय लिया है।

[छह]

लक्ष्मीराम ने अपनी 'परात्रिंशिका-विवृत्ति' (पृ० १-२) में कहा है कि विभिन्न सम्प्रदायों ने भिन्न-भिन्न मार्गों से पूर्णता में प्रवेश करने की चेष्टा की है। विभिन्न नदियाँ

विभिन्न धाराओं से जैसे एक ही समुद्र को प्राप्त करती हैं, वैसे ही विभिन्न शक्ति-स्रोत विभिन्न धाराओं से एक ही शिवत्व-रूप पूर्ण सत्ता को प्राप्त करते हैं। उनमें से शैव, वेदान्तिक, सांख्य, तार्किक आदि ने ज्ञान-शक्ति के स्रोत का सहारा लेकर शिवार्णव में प्रवेश करने की चेष्टा की। इसके विपरीत पातंजल योगी, हठयोगी, पूर्वमीमांसा के अनुसरणकारी आदि ने क्रिया-शक्ति के स्रोत का अवलम्बन करके पूर्ण में प्रवेश करने की चेष्टा की। किन्तु कौलमार्ग के उपदेष्टा भैरव भट्टारक ने भक्तों को अनुग्रह करने के लिए स्पन्द-स्वरूप परादि चतुर्विध वाक्‌रूप स्रोत के द्वारा अकुल में प्रवेश करने की राह दिखाई है। कौलमत में इसी मार्ग का नाम प्रकृत राजयोग है। यह ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का संघट्टात्मक है। यह संघट्ट ही अनुत्तर नामक ज्ञान-क्रियात्मक अध्वा का नामान्तर है। अ-कार से ह-कार तक वर्णमाला का विकास ही इस अनुत्तर अध्वा का स्वरूप है।

यह अनुत्तर ही अविलम्ब कौलिक सिद्धि देता है। यह विज्ञात होते ही अनुत्तर-मात्र चिदेक-रूप आत्मा की शक्तियों का स्वातन्त्र्यात्मक साम्य-लाभ होता है। इसी को मुक्ति कहते हैं। कुलदेह में उद्‌भूत जो सिद्धि है, जो चित्‌तत्त्व के साथ एकात्म रूप में वर्णित होती है, वही कौलिक सिद्धि है। जड़ देहादि का चित् तत्त्व के साथ तादात्म्य-सम्पन्न होता है। इस ज्ञान के दृढ़ होने से ही जीवन्मुक्ति मिलती है। 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय-षोडश सूत्र' में यही कहा गया है—

'देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।'

लक्ष्मीराम ने प्रत्यभिज्ञा-सूत्र का शक्ति-सूत्र के नाम से उल्लेख किया है। यह जो कौलिकी शक्ति है, वह हृदयस्थित चित्‌शक्ति एवं देहादि-व्यापिका है। इसे 'कुल-नायिका' कहा जाता है। उसका तात्पर्य यह है कि यह 'कुल' या देह की 'नायिका' है अर्थात् इसीसे या इसके प्रभाव से चित् के साथ देह की एकात्मता होती है।

इसके बाद ही 'परात्रिंशिका' में कौलिक विधि बताई गई है, जो भैरव के हृदयाकाश में स्थित है। इस विधि के द्वारा जड़ देहादि भी चिदेकरस हो जाती हैं। आग जैसे लोहे के पिण्ड को अग्निमय करती है, वैसे ही यह देह को चिन्मय करती है। यह विधि है क्या? अ से विन्दु तक अर्थात् अंकार तक पन्द्रह स्वरवर्ण पन्द्रह तिथि-स्वरूप हैं। संवित् पहले प्राण में परिणत होता है। चन्द्र और सूर्य प्राण और अपान के ही नाम हैं। उन वर्णों के उच्चार में काल की कलना सूक्ष्म क्रियाशक्ति के सम्बन्ध के कारण प्राण और अपान-रूप में परिणत होती है। प्रतिपद् आदि तिथियाँ सूर्य और चन्द्र के सन्निकर्ष और विप्रकर्ष से एवं काल-सम्बन्ध के द्वारा प्रवृत्त होती हैं।

अ से विसर्ग तक शिवतत्त्व है। क से ङ तक पृथ्वी आदि पञ्चभूत। च से ञ तक गन्ध आदि पञ्च तन्मात्रा। ट से ण पादादि वाक् तक पञ्च कर्मेन्द्रिय। त से न तक घ्राण आदि श्रोत्र तक पञ्च ज्ञानेन्द्रिय। प से म तक मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति और पुरुष। य से व तक वायवी धारणा, वारुणी धारणा, आग्नेयी धारणा और ऐन्द्री या पार्थिव धारणा।

पार्थिव धारणा = देहव्यापी सूर्यरूप प्रणव-चिन्तन। आग्नेयी = दक्षिण-पैर के अँगूठे से उठी हुई अग्निज्वाला से बाह्य और आन्तर भस्मीभूत हो गया—यह भावना। वायवीय धारणा = चण्डवायु द्वारा शरीर की भस्मराशि, जो सब ओर बिखर जाती है—ऐसा चिन्तन। वारुणी धारणा = द्वादशान्त से पतित शाक्तामृत द्वारा तद्स्थान का प्रक्षालन हुआ है—ऐसी भावना। इसके बाद कुण्डलिनी के साथ व्योमस्थित जीव की प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा अमृतद्वार में हृदय को उतारना। अ से क्ष तक वर्णसृष्टि का मूल समवायी कारण है अ।

'तन्त्रालोक' (३।१७) में है कि अकुलदेव के कुलप्रथनशालिनी कौलिक पराशक्ति है, यह उनसे नित्यसंयुक्त है। इस प्रसंग में टीकाकार ने जो कहा है, उसका सार है—

कुल = पूर्ण
(शिवशक्ति आदि प्रतिनियत व्ययदेश-असहिष्णु, अनाथ,
अनुत्तरप्रकाश का परम परामर्श)

अकुल = शिव	कौलिकी शक्ति
(यह प्रकाशैकस्वरूप है)	(यह विश्व की आपूरणकारिणी है)

[सात]

अब कापालिक और सौम्यमत के बारे में दो-चार बातें कही जा रही हैं।

यामुन मुनिकृत 'आगमप्रामाण्य' के अनुसार चार शैवमतों में कपालिक मत अन्यतम है। शिवपुराण और वायवीय संहिता का भी मत ऐसा ही है। वामनपुराण में भी ऐसा उल्लेख है, लेकिन वहाँ 'कापालिक' के बदले कपाली शब्द आया है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने कापालिक मत को चार माहेश्वर मतों में अन्यतम कहा है। एक समय यह सम्प्रदाय भारतवर्ष में चारों ओर फैला था। यह कितने दिनों

का पुराना है, यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु मध्ययुग में और-और मतों की भाँति यह भी चारों ओर फैला था। इसका प्राचीन नाम सोम-सिद्धान्त या महाव्रत है। श्रीहर्ष ने 'नैषध' में कहा है—

या सोमसिद्धान्तमयाननेव
शून्यात्मभावाद्वनयोवरेव।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव
सकारतासिद्धिमयाखिलेव॥ (१०,८७)

कापालिक अर्थ में सोम-सिद्धान्त का प्रयोग 'प्रबोधचन्द्रोदय' में भी पाया जाता है। स्वरचित प्रबोधचन्द्रोदय-टीका में रुचिकर कहते हैं कि 'सोम' शब्द का अर्थ उमा-सहित अर्थात् पार्वती-सहित शिव का जो सिद्धान्त है, वही सोमसिद्धान्त है। अपनी टीका में वे कहते हैं—'सह उमया वर्त्तते इति सोमः, तस्य सिद्धान्तः' (तृतीय अंक)। प्रकाश और चन्द्रिका टीका में भी यही व्युत्पत्ति मिलती है। इससे यह समझ में आता है कि यह सम्प्रदाय किसी समय शैव-सम्प्रदायमुक्त ही था। रघूत्तम ने 'न्यायभाष्यटीका भाष्यचन्द्र' में सोम-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है (चौखम्बा संस्करण, पृ० ३०)। अकुलवीरतन्त्र (पृ० १०५) में अन्यान्य सम्प्रदायों के साथ सोम-सिद्धान्ती की निन्दा है। उसमें कहा गया है कि इन सम्प्रदायों के लोग पूर्ण शान्ति नहीं पा सकते।

न विन्दन्ति पदं शान्तं कैवल्यं निष्क्रियं गुरुम।
सांख्यादयस्तु ये केचिन्न्यायवैशेषिकास्तथा।
बौद्धाहेताश्च ये केचित् सोमसिद्धान्तदर्शिनः॥

[नेपाल-दरबार लाइब्रेरी में यह पुस्तक है। कुछ दिन पहले डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने इसका सम्पादन करके Calcutta Sanskrit Series से इसे प्रकाशित किया (No. 3,1934)। इटली के अध्यापक तुच्चि ने (Professor Tucci) ने 'Animadversiones Indicae' in J.A.S.B. (New series NS/1930, p. 130) में दरबार-लाइब्रेरी की पुस्तक से श्लोकों का जरा और ढंग से उद्धार किया है। यथा—

.....शान्तं शैलानां (?) निष्कलम।
सम्वादन्ति (?) ये केचित्पाशं (वा न्याय).... ॥
बौद्धास्तरि हन्ता (?) ये 'सोमसिद्धान्तवादिनः।
मीमांसा पञ्चस्रोतश्च वामसिद्धान्त दक्षिणः (?)॥]

सुप्रभेदागम में सोम नामक चार शैव-सम्प्रदायों का वर्णन है। वह शायद यही सोम-

सिद्धान्ती है। ईशानशिव गुरुपद्धति-धृतमत से शिवभाषित तन्त्र ही सोमतन्त्र है (तृतीय खण्ड, क्रिया-पाद)।

शायद इस सम्प्रदाय के लोग महाव्रती भी थे। इगतपुरी (नासिक जिला) में जो लेख (सन् ६२० ई०) पाया गया है, उसमें कपालेश्वर की पूजा का जिक्र है और मन्दिर में महाव्रतियों के भोजनादि की व्यवस्था के लिए दान की बात है। (Eliot : Hinduism & Buddhism, Part II, p. 230, foot-note 4) शिवपुराण और स्वायम्भुव आगम (ईशानशिवगुरुद्धतिधृत) में महाव्रतियों की चर्चा मिलती है।

तान्त्रिक-सम्प्रदाय के दिग्दर्शन के रूप में हमने यहाँ मुख्यतः कौल-सम्प्रदाय का सामान्य परिचय देने की चेष्टा की और कापालिक एवं सोम्यमत की बहुत ही संक्षिप्त चर्चा की। इसके सिवा पाशुपत, रसेश्वर आदि असंख्य सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। विस्तार के डर से उन सबकी आलोचना अभी नहीं की गई। तान्त्रिक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी गवेषणा का विस्तृत क्षेत्र पड़ा है, उसकी ओर तरुण गवेषकों का ध्यान आकृष्ट करना ही इस दिग्दर्शन का मुख्य उद्देश्य है।

साहित्य

[एक]

दस शिवागम :

आगम-साहित्य की चर्चा के लिए सबसे पहले परम्परा-प्रसिद्ध आगमों का उल्लेख आवश्यक है। कहना नहीं होगा, इस प्रसंग में सिर्फ शैवागम और शाक्तागम के बारे में ही कहा जा रहा है। वैष्णव आदि अन्य आगमों का विवरण यहाँ अप्रासंगिक है। तान्त्रिक साहित्य के इतिहास में दस शिवागम और अट्ठारह रुद्रागम—एक साथ अष्टाविंश आगम के नाम से परिचित हैं। कहीं-कहीं इन आगमों को साधारणतः द्वैत और द्वैताद्वैत दृष्टि के समर्थक के रूप में निर्देश किया गया है। परन्तु इनकी प्रामाणिकता सर्वत्र समान रूप से अंगीकृत होती है। पौष्कर आगम के अनुसार सिद्धान्तशास्त्र के रूप में ये दोनों प्रकार के शैवमत स्वीकार किये जाते हैं। प्रत्येक आगम में विद्या, योग, क्रिया और चर्या—ये चार पाद होते हैं, परन्तु ऐसे सर्वाङ्ग-समन्वित आगम का स्वरूप सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता। किसी-किसी आगम में एकाधिक पाद मिलते हैं, पर सभी आगमों के चारों पाद ठीक-ठीक पाये नहीं जाते। आगम-साहित्य बहुत विशाल है, लेकिन इसके बहुत ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। जो हैं, वे इसके पूर्णरूप के कण-भर भी नहीं। दुःख की बात है कि वर्त्तमान समय में अयत्न और अनादर से वह कण-भर भी लुप्त होने को है। भारतीय संस्कृति की चर्चा में वैदिक साहित्य की भाँति आगम-साहित्य की चर्चा का भी एक विशिष्ट ऊँचा स्थान है, यह कहना नहीं होगा।

किरणागम में है कि जगत् की सृष्टि के बाद परमेश्वर ने सबसे पहले दस शिवों की सृष्टि करके उनमें से प्रत्येक को अपने अविभक्त महाज्ञान का एक-एक हिस्सा दिया। यह अविभक्त महाज्ञान ही मूल शिवागम है। स्वरूपतः वेद जैसे एक और अखण्ड महाज्ञान-स्वरूप है, पर विभक्त होकर तीन या चार रूप में परिणत होता है, वैसे ही मूल में आगम भी एक है, किन्तु विभक्त होकर विभिन्न रूपों में परिणत हुआ है।

दस शिवों से संश्लिष्ट दस धाराओं की जो बात कही गई, इनमें से प्रत्येक धारा में भी परम्परा है। उसके अनुसार दस में से पहले शिव का नाम है प्रणवशिव। परमेश्वर से उन्हें जो आगम प्राप्त हुआ, उसका नाम है कामिक। सुनने में आता है, इसके श्लोकों की संख्या परार्द्ध-परिमाण थी। प्रणवशिव से इस आगम को त्रिकल ने प्राप्त किया और त्रिकल ने जिन्हें प्रदान किया, उनका नाम है हर। किरणागम और

कामिकागम दोनों में ही यह कामिक नाम मिलता है। लेकिन तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ द्वारा उद्धृत श्रीकण्ठसंहिता के अनुसार इसका नाम कामज है।

दूसरे आगम का नाम योगज है। इसके श्लोकों की संख्या एक लाख है। इसके पाँच भेद हैं। इसे पहले सुधा नामक शिव ने प्राप्त किया, उनसे भस्म ने और भस्म से प्रभु ने प्राप्त किया।

तीसरा आगम है चिन्त्य। इसका भी परिमाण एक लाख है। इसके छह भेद हैं। इसे पहले दीप्त ने प्राप्त किया, दीप्त से गोपति और गोपति से अम्बिका ने प्राप्त किया।

चौथा आगम है कारण। इसका परिमाण है एक करोड़। इसके सात भेद हैं। इसे पहले कारण ने पाया, कारण से शर्व और शर्व से पाया प्रजापति ने।

पाँचवाँ आगम है अजित। इसका परिमाण है एक लाख। इसके चार भेद हैं। इसे पहले पाया सुशिव ने, सुशिव से उमेश और उमेश से अच्युत ने पाया।

छठा आगम है सुदीप्तक। इसका परिमाण है एक लाख। इसके नौ भेद हैं। इसे पहले पाया ईश ने, ईश से त्रिमूर्ति और त्रिमूर्ति से पाया हुताशन ने।

सातवाँ आगम है सूक्ष्म। इसका परिमाण है एक लाख। इसके कोई भेद नहीं। इसे पहले प्राप्त किया सूक्ष्म ने, सूक्ष्म से भव ने और भव से प्रभंजन ने।

आठवें आगम का नाम है सहस्र। इसके दस भेद हैं। इसे पहले प्राप्त किया काल ने, काल से भीम और भीम से पाया खग ने।

नवें आगम का नाम सुप्रभेद है। इसका परिमाण है तीन करोड़। इसके कोई भेद नहीं है। इसे पहले धनेश, धनेश से विश्वेश और विश्वेश से शशि ने पाया।

दसवें आगम का नाम है अंशुमान। इसके बारह भेद हैं। इसे पहले अंशु ने पाया, अंशु से अग्र और अग्र से रवि ने पाया।

ये दस नाम किरणागम-सम्मत हैं। श्रीकण्ठीसंहिता की दी हुई सूची में सुप्रभेद का नाम नहीं है। उसकी जगह मुकुट या मुकुटागम का नाम है। मुकुटागम के अनुसार शिवज्ञानों के तीन-तीन श्रोता होने के कारण शिवज्ञान की संख्या तीस है (१० × ३)।

[दो]

अष्टादश रुद्रागम :

अब **अष्टादश रुद्रागम** के बारे में कहा जा रहा है। इन आगमों के नाम और उनके पहले और दूसरे श्रोता के नाम इस प्रकार हैं—

पहला—**विजय**। पहले श्रोता अनादिरुद्र और दूसरे परमेश्वर।
दूसरा—**निःश्वास**। पहले श्रोता दशार्ण, दूसरे शैलजा।
तीसरा—**पारमेश्वर**। प्रथम श्रोता रूप, दूसरे उशना।
चौथा—**प्रोद्गीत**। पहले श्रोता शूली, दूसरे कच।
पाँचवाँ—**मुखबिम्ब**। पहले श्रोता प्रशान्त, दूसरे दधीचि।
छठा—**सिद्ध**। पहले श्रोता बिन्दु, दूसरे चण्डेश्वर।
सातवाँ—**सन्तान**। पहले श्रोता शिवलिंग, दूसरे हंसवाहन।
आठवाँ—**नारसिंह**। पहले श्रोता सौम्य, दूसरे नृसिंह।
नवाँ—**चन्द्रांशु** या **चन्द्रहास**। पहले श्रोता अनन्त, दूसरे बृहस्पति।
दसवाँ—**वीरभद्र**। पहले श्रोता सर्वात्मा, दूसरे वीरभद्र-महागण।
ग्यारहवाँ—**स्वायम्भुव**। पहले श्रोता निधन, दूसरे पद्मज।
बारहवाँ—**विरक्त**। पहले श्रोता तेज, दूसरे प्रजापति।
तेरहवाँ—**कौरव्य**। पहले श्रोता ब्रह्मगेश, दूसरे नन्दिकेश्वर।
चौदहवाँ—**माकुट** या **मुकुट**। पहले श्रोता शिवाख्य या ईशान, दूसरे महादेव ध्वजाश्रय।
पन्द्रहवाँ—**किरण**। पहले श्रोता देवपिता, दूसरे रुद्रभैरव।
सोलहवाँ—**ललित**। पहले श्रोता आलय, दूसरे हुताशन।
सत्रहवाँ—**आग्नेय**। पहले श्रोता व्योमशिव, दूसरे के नाम का पता नहीं चलता।
अट्ठारहवाँ— ? ? ?

श्रीकण्ठी में रुद्रागम की जो सूची है, उसमें अधिक है रौरव, विमल, विसर और सौरभेय और उसमें विरक्त, कौरव्य, माकुट तथा आग्नेय नहीं हैं। यहाँ पर कौरव्य वास्तव में रौरव हो सकता है, बाकी तीनों अलग-अलग हैं। अट्ठारहवें आगम का नाम कहीं नहीं मिलता। इनमें से किरण, पारमेश्वर और रौरव—इन तीन आगमों के नाम तन्त्रालोक में हैं। मुकुटतन्त्र से रुद्रभेद द्विविध है। इसलिए रुद्र-ज्ञान छत्तीस है—(१८ ⊠ २)। अतएव कुल सिद्धान्त-ज्ञान छियासठ हैं, अर्थात् १० ⊠ ३ = ३० शिव-भेद और १८ × २ = ३६ रुद्रभेद। कुल ६६।

नेपाल में आठवीं सदी के गुप्ताक्षर (Script में) में लिखा **निःश्वासतत्त्व-संहिता** नाम की एक पोथी है। इसमें लौकिक धर्म, मूलसूत्र, उत्तरसूत्र, नयसूत्र और गुह्यसूत्र—ये पाँच सूत्र या विभाग हैं। लौकिक सूत्र प्रायः उपेक्षित ही है, बाकी चार सूत्रों में उत्तरसूत्र को आदिसूत्र और नयसूत्र को प्रथम सूत्र के नाम से अभिहित किया जाता है। उत्तरसूत्र में अट्ठारह प्राचीन शिवसूत्रों के नाम हैं। वास्तव में ये नाम उन नामों से प्रचलित आगम के ही नाम हैं। वे कई नाम हैं—निःश्वास, स्वायम्भुव, वातुल, वीरभद्र, रौरव, मुकुट या माकुट, विरस (= वीरेश ?), चन्द्रहास, ज्ञान, मुखबिम्ब, प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोद्गीत, किरण और पारमेश्वर। उसमें दस 'शिवतन्त्र' के नाम हैं—कामिक, योगज, दिव्य (चिन्ता), कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, साहस्र, अंशुमान और सुप्रभेद।

ब्रह्मयामल (लिपिकाल सन् १०५२ ई०) के ३९वें अध्याय में नीचे लिखे नाम पाये जाते हैं—

विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, वाथूल, वीरभद्र, रौरव, मुकुट, वीरेश, चन्द्रज्ञान, प्रोद्गीत, ललित, सिद्धिसन्तानक, सर्वोद्गीत, किरण और परमेश्वर। (हरप्रसाद शास्त्री-संकलित नेपाल-दरबार कैटलग, दूसरा भाग, पृष्ठ ६०)

कालिकागम में भी अष्टादश तन्त्र के नाम हैं।

किरणागम की एक पोथी हरप्रसाद शास्त्री महोदय ने नेपाल में देखी थी। लिपिकाल सन् ९२४ ई०। Bendell का कहना है—Cambridge University Library में पारमेश्वर आगम की सन् ८९५ ई० की हस्तलिखित पोथी है। डॉक्टर प्रबोधचन्द्र बागची की राय में नयोत्तरसूत्र (निःश्वासतन्त्र) का रचनाकाल सम्भवतः ईसा की छठी से सातवीं शताब्दी के बीच है। ब्रह्मयामल के अनुसार निःश्वास आदि तन्त्र शिव के मध्य स्रोत से उद्भूत और ऊर्ध्ववक्त्र से निर्गत है। ब्रह्मयामल में यह भी है कि सम्मोह, नयोत्तर अथवा शिरश्छेद वामस्रोत से उद्भूत हैं। जयद्रययामल में भी है कि शिरश्छेद, नयोत्तर, महासम्मोहन—ये तीनों वामस्रोत से उद्भूत हैं।

द्वैत और द्वैताद्वैत शैवागम बहुत प्राचीन हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन अभी हम जिन्हें उस आकार में पाते हैं और मध्ययुग में भी जिस रूप में उनका वर्णन मिलता है, वह बहुत प्राचीन रूप नहीं है। कालभेद से नाना ऐतिहासिक कारणों से इस प्रकार का रूपान्तर हुआ होगा। फिर भी ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं है कि मध्ययुग में प्रचलित पञ्चरात्र-आगम का अत्यन्त प्राचीन रूप जैसा महाभारत के शान्तिपर्व में मिलता है, वैसा ही इन सब शैवागमों के बारे में भी समझना

होगा। महाभारत के मोक्षपर्व में है कि श्रीकृष्ण ने उपमन्यु से द्वैत और द्वैताद्वैत शैवागम का अध्ययन किया था।

कामिकागम में है—सदाशिव के पञ्चमुखों में से प्रत्येक के साथ पाँच स्रोतों का सम्बन्ध है। इसलिए कुल स्रोतों की संख्या पाँच सौ है। प्रत्येक मुख के पाँच स्रोतों के नाम हैं—पहला लौकिक, दूसरा वैदिक, तीसरा आध्यात्मिक, चौथा अतिमार्ग और पाँचवाँ मन्त्र। पाँच मुखों के नाम हैं—सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान।

सोम-सिद्धान्त में है—लौकिक तन्त्र पाँच, वैदिक पाँच, आध्यात्मिक पाँच, अतिमार्ग पाँच और मन्त्रतन्त्र पाँच प्रकार के हैं। आचार्य सर्वात्म शम्भु ने अपनी 'सिद्धान्तदीपिका' में लौकिक आदि पाँच प्रकार का विवरण दिया है। (उमापति-कृत शतरत्न, पृ० ६)।

इन तन्त्रों में परस्पर आपेक्षिक उत्कर्ष-अपकर्ष का विचार भी है। उसके अनुसार ऊर्ध्व आदि पाँच दिक् के भेद से तन्त्र उत्कर्ष के सम्बन्ध में तारतम्य-विशिष्ट हैं यानी ऊर्ध्व की ओर से निर्गत तन्त्र सर्वश्रेष्ठ और उसके बाद पूर्व, उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण दिक् का सम्बन्ध समझना होगा। इस क्रम के अनुसार सिद्धान्तविदों की दृष्टि में सिद्धान्त-ज्ञान मुक्तिप्रद है, इसलिए सर्वोत्कृष्ट है। तदनन्तर क्रम के अनुसार सर्वविषयहारक गारुडज्ञान, सर्ववशीकरण प्रतिपादक कामज्ञान, भूत-निवारक भूत-तन्त्र और शत्रुक्षय के उपयोगी भैरवतन्त्र का स्थान जानना चाहिए।

इस प्रसंग मे और एक बात कहने की जरूरत है। वैदिक दृष्टि से जैसे स्थूलतः ज्ञान का दो प्रकार वर्णित होता है—एक बोधात्मक और दूसरा शब्दात्मक—वैसे ही प्राचीन तन्त्र-साहित्य में भी बोध-रूप और शब्द-रूप ज्ञान का विस्तृत विवरण मिलता है। कहना व्यर्थ है कि अबबोधात्मक ज्ञान शब्दात्मक ज्ञान से उत्कर्ष-सम्पन्न है, इस विषय में दो मत नहीं है, पर यह भी सत्य है कि यह बोधरूपी ज्ञान भी एक प्रकार का नहीं है; क्योंकि प्रतिपाद्य विषय के भेद से ज्ञान का भेद हुआ करता है। जो ज्ञान शिव-प्रतिपादक है, उससे वह ज्ञान निकृष्ट है, जो पशु, माया आदि तत्त्वों का प्रतिपादक होता है। इसीलिए शुद्धमार्ग, अशुद्ध मार्ग, मिश्र मार्ग आदि ज्ञानगत भेद कल्पित होता है। शब्दात्मक ज्ञान शास्त्ररूप है। यह भी परापर भेद से नाना प्रकार का है। सिद्धान्तों मत से वेदादि का ज्ञान जितना ही निर्मल क्यों न हो, सिद्धान्त-ज्ञान उससे विशुद्ध है, इसलिए श्रेष्ठ है। सिद्धान्त-ज्ञान का भी परापर भेद है।

इसी प्रकार दीक्षारूप ज्ञान के नैष्ठिक, भौतिक, निर्बीज, सबीज, शिवधर्मी, लोकधर्मी आदि भेद हैं। इससे यह समझ में आता है कि ज्ञान मूल में एक होते हुए

भी अर्थ-प्रतिपादन के तारतम्य से परापर नाना भेद में प्रकाशित होता है। इसीलिए स्वायम्भुव आगम में है—

तद्वेकमप्यनेकत्वं शिववक्त्राम्बुजोद्भवम्।
परापरेण भेदेन गच्छत्यर्थं प्रतिश्रयां॥

कामिकागम में भी है, पर और अपर भेद से आधिकारिभेदमूलक दो प्रकार का ज्ञान है। उनमें से पति-प्रतिपादक ज्ञान, परज्ञान और पशु-प्रतिपादक ज्ञान अपर ज्ञान है। शिव-प्रकाशक ज्ञान शिवज्ञान—वह पर या श्रेष्ठ है। पशुपाशादि अर्थप्रकाशक ज्ञान अपर ज्ञान है। कोई-कोई कहते हैं, विलक्षणतावशतः ज्ञान में परत्व और अपरत्व कल्पित होता है। शिवज्ञान और रुद्रज्ञान को सिद्धान्त-ज्ञान कहते हैं यह पहले ही कहा गया है।

पाशुपत आचार्यगण अट्ठारह रौद्रागम की प्रामाणिकता स्वीकार करते थे, पर दस शिवज्ञान की प्रामाणिकता को नहीं मानते थे। इसका कारण है कि रौद्रागम में द्वैतदृष्टि से अद्वैतदृष्टि का मिश्रण है, परन्तु शिवागम में अद्वैत दृष्टि अंगीकृत नहीं होती। इसलिए आचार्य अभिनवगुप्त के मत से पाशुपत दर्शन सर्वथा हेय नहीं है। किसी-किसी ग्रन्थ में शिव के विभिन्न मुखों से विभिन्न आगमों के निर्गम का विवरण है। उससे यह जाना जाता है कि कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण और अजित—ये पाँच शिवागम शिव के सद्योजात मुख से निकले हैं। दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमत, और सुप्रभेद—ये पाँच शिवागम वामदेव-मुख से निकले हैं। विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, आग्नेय और वीर—ये पाँच रुद्रागम शिव के अघोर मुख से निकले हैं। रौरव, मुकुट, विमलज्ञान, चन्द्रकान्त और बिम्ब—ये पाँच रुद्रागम ईशान-मुख से निःसृत हैं। प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोक्त, परमेश्वर, किरण और वातुल—ये आठ रुद्रागम तत्पुरुष-मुख से निर्गत हैं। इन कुल अट्ठारह आगमों के १९८ विभाग की बात भी किसी-किसी ग्रन्थ में देखने को मिलती है।

[तीन]

चौंसठ भैरवागम

श्रीकण्ठीसंहिता में ६४ भैरवाख्य अद्वैतागम का नाम निर्दिष्ट हुआ है। उन ६४ अद्वैतागमों के नाम हैं—

(१) **भैरवाष्टक**—स्वच्छन्दभैरव, चण्डभैरव, क्रोधभैरव, उन्मत्तभैरव, असितांग भैरव, महोच्छुष्म भैरव, कपाली भैरव। आठवें के नाम का पता नहीं चलता।

(२) **यामलाष्टक**—ब्रह्म, विष्णु, स्वच्छन्द, रुरु, आथर्वण, रुद्र और वेताल-यामल। आठवें का नाम नहीं मिलता।

(३) **मताष्टक**—रक्त, लम्पाट, लक्ष्मी, चालिका, पिंगला, उत्फुल्लक, विम्बाद्यमत। आठवें का नाम नहीं मालूम।

(४) **मंगलाष्टक**—पिचुभैरवी, तन्त्रभैरवी, तन्त्र, ब्राह्मीकला, विजया, चन्द्रा, मंगला और सर्वमंगला।

(५) **चक्राष्टक**—मन्त्र, वर्ण, शक्ति, कला, बिन्दु, नाद, गुह्य और पूर्णचक्र।

(६) **बहुरूपाष्टक**—अन्धक, रुरुभेद, अज, मल, वर्णभण्ट, विडङ्ग, मातृरोदन, जालिम।

(७) **वागीशाष्टक**—भैरवी, चित्रका, हिंसा, कदम्बिका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा, विद्युन्मत्।

(८) **शिखाष्टक**—भैरवीशिखा, वीणाशिखा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, आथर्वक, कबन्ध और शिरश्छेद।

सन् ८०२ ई० में जो चार तन्त्र-ग्रन्थ भारतवर्ष से कम्बोज गये थे, उनमें से वीणाशिखा, शिरश्छेद और सम्मोह—इन तीन के नाम पूर्वोक्त सूची में हैं। वीणाशिखा शुद्ध नाम है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने जो 'बिनासिख' नाम लिखा है, वह शायद वीणाशिखा का ही अपभ्रंश है। चौथे का नाम नयोत्तर है (Studies in the Tantras, Vol. I, बागची, पृ० २)।

डॉ० बागची का अनुमान है कि नेपाल में संरक्षित निःश्वास-तत्त्व संहिता (जिसका वर्णन नेपाल-दरबार कैटलग के प्रथम खण्ड, पृ० १३७ में है) अट्ठारह रौद्रागम के अन्तर्गत निःश्वासतन्त्र का ही नामान्तर है। इसके चार भाग या सूत्र हैं। कुल मिलाकर ये नयोत्तरतन्त्र नाम से परिचित हैं (बागची, पृ० ५)।

[चार]

चौंसठ तन्त्र (कुलमार्ग) :

भगवान् शंकराचार्य-कृत 'आनन्दलहरी' स्तोत्र में कहा गया है—

चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमनुसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसभपरतन्त्रं पशुपतिः ।
पुनस्तन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतर दिदम् । (श्लोक ३१)

पशुपति ने सभी भुवनों को तत्तत्सिद्धि-प्रदर्शक चौंसठ तन्त्रों के द्वारा वशीभूत किया था, इसमें ऐसी चर्चा है । प्रत्येक तन्त्र किसी-न-किसी पुरुषार्थप्रद उपासना का प्रदर्शक है । बाद में उन्होंने जगदम्बा के अनुरोध से सारे पुरुषार्थों को एक साथ संघटना-कारक एकमात्र महाशक्ति के प्रतिपादक तन्त्र की पृथ्वी में अवतारणा की थी—ऐसा कहा गया है । सौभाग्यवर्द्धिनी टीका के अनुसार यह भावार्थ इस श्लोक का है कि देवी ने शंकर से कहा था—'तुमने चौंसठ तन्त्रों की रचना की है, उनमें से सभी सब प्रकार के पुरुषार्थ की साधना के प्रकाशक नहीं है । तुम ऐसे एक तन्त्र की रचना करो, जो एक होते हुए भी उसी में सभी पुरुषार्थ-साधनों के उपाय प्रदर्शित हों ।' देवी के इस अनुरोध पर शंकर ने कादिमताख्य— एक स्वतन्त्र तन्त्र को प्रकट किया । और तन्त्र परस्पर सापेक्ष हैं, पर यह तन्त्र अन्य-निरपेक्ष है । इसीलिए तान्त्रिक-समाज में इसकी गणना अनादि तन्त्र के रूप में की जाती है ।

टीकाकार लक्ष्मीधर कहते हैं कि इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में जो 'अनुसन्धाय' पाठ ग्रहण किया जाता है, वह ठीक नहीं है । विशुद्ध पाठ है 'अतिसन्धाय', 'अनुसन्धाय' नहीं । अतिसन्धाय पद का अर्थ है 'वंचना करके' । इसके अनुसार इस श्लोक का अर्थ यह है कि महामाया, शम्बर आदि चौंसठ तन्त्रों के द्वारा सभी प्रपंचों की वंचना की गई है । इन तन्त्रों में से प्रत्येक में कोई-न-कोई सिद्धि वर्णित हुई है । इसीलिए देवी के अनुरोध से भगवान् शंकर ने भी पुरुषार्थ-साधक एक तन्त्र की रचना की । मुख्य रूप से यही भगवती का तन्त्र है । इन चौंसठ तन्त्रों के नाम चतुःशती में हैं (आनन्दाश्रम से प्रकाशित 'नित्याषोडशिकार्णव' में इन नामों की विस्तृत व्याख्या भास्कर राय के 'सेतुबन्ध' में प्रकाशित हुई है) । इन सभी तन्त्रों के वक्ता शम्भु और सुननेवाली पार्वती हैं । ये सब जगत् के विनाशकारक और वैदिक मार्ग से दूरस्थ हैं—यही लक्ष्मीधर की व्याख्या है ।

'अरुणामोदिनीटीका' लक्ष्मीधर की अनुगामिनी है । इस मत से, ६५वाँ तन्त्र क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह भगवान् के मन्त्र-रहस्य, जाया शिव-शक्ति—दोनों के वर्णद्वय के सम्मिश्रण से उभयात्मक है ।

चतुःशती में उल्लिखित ६४ तन्त्रों के नाम और उनपर सौन्दर्यलहरी-टीका में लक्ष्मीधर की दी हुई व्याख्या इस प्रकार है—

१—२. **महामायातन्त्र** और **शम्बरतन्त्र**—इनमें माया-प्रपंच-निर्माण की बात है। माया-प्रपंच-निर्माण के फलस्वरूप द्रष्टा की इन्द्रियाँ स्वानुरूप विषय को ग्रहण न करके अन्यथा ग्रहण करने को विवश होती हैं। जैसे, वास्तव जगत् में जो घटता है, द्रष्टा के आगे वह प्रतिभात होता है—पटरूप में। यह बहुत-कुछ आज के युग के hypnotism आदि मोहिनी विद्या-जैसा है।

३. **योगिनीजालशम्बर**—माया-प्रधान तन्त्र को शम्बर कहते हैं। इसमें योगिनियों का जाल-दर्शन होता है। इसकी साधना उपदिष्ट नियम से श्मशान आदि स्थानों में करनी होती है।

४. **तत्त्वशम्बर**—यह एक प्रकार की महेन्द्र-जालविद्या है। इस विद्या के द्वारा एक तत्त्व में दूसरा तत्त्व भासमान होता है। जैसे, पृथ्वी-तत्त्व में जल-तत्त्व का भान या जल-तत्त्व में पृथ्वी-तत्त्व का भान आदि।

५—१२. **सिद्धिभैरव, वटुकभैरव, कंकालभैरव, कालभैरव, कालाग्नि-भैरव, योगिनीभैरव, महाभैरव** और **शक्तिभैरव (भैरवाष्टक)**—इन ग्रन्थों में निधिविद्या का वर्णन है और ऐहिक कर्म-साधन कापालिक मत का विवरण है। ये सारे-के-सारे अवैदिक हैं।

१३—२०. **बहुरूपाष्टक**—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, शिवदूती....(?)—ये सभी शक्ति से उद्भूत मातृका रूप हैं। इन आठ मातृ-काओं के विषय में आठ तन्त्र रचित हुए हैं। लक्ष्मीधर के मत से ये सब अवैदिक हैं। आनुषंगिक रूप से इनमें कहीं-कहीं श्रीविद्या का प्रसंग रहते हुए भी ये वैदिक साधकों के लिए उपादेय नहीं हैं।

२१—२८. **यमलाष्टक**—'यमला' शब्द का अर्थ है कायसिद्धा अम्बा। इन आठों तन्त्रों में यमला-सिद्धि का वर्णन दिया गया है। ये भी अवैदिक तन्त्र हैं।

२९. **चन्द्रज्ञान**—इस तन्त्र में १६ विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है। फिर भी कापालिक मत होने से यह हेय है। चन्द्रज्ञान नाम से वैदिक विद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ भी है, परन्तु वह ६४ तन्त्रों से बाहर है।

३०. **मालिनीविद्या**—इसमें समुद्रयान का उपाय वर्णित है। यह भी अवैदिक है।

३१. **महासम्मोहन**—जागते हुए आदमी को सुप्त या अचेतन करने की विद्या। यह बाल-जिह्वा के छेद आदि कुत्सित उपायों से सिद्ध होता है, फलतः यह भी हेय है।

३२—३६. **वामजुष्टतन्त्र, महादेवतन्त्र, वातुलतन्त्र, वातुलोत्तरतन्त्र, कामिक**—ये मिश्र तन्त्र हैं। इनके कुछ-कुछ अंश वैदिक होते हुए भी बाकी सब अवैदिक हैं।

३७. **हृद्भेदतन्त्र**—यह कापालिक मत है। इसमें यद्यपि षट्चक्र-भेद और सहस्रार की बात है, तथापि इसमें वामाचार की प्रधानता होने के नाते यह हेय है।

३८—३९. **तन्त्रभेद** और **गुह्यतन्त्र**—इसमें अकेले और गुप्त भाव से परकृत तन्त्र के भेद का उपाय वर्णित है। इस विद्या के अनुष्ठान में हिंसा आदि का बहुत विधान होता है। इसलिए दोनों ही अवैदिक ग्रन्थ है।

४०. **कलावाद**—इसमें चन्द्रकला-समूह प्रतिपादित हुआ है। वात्स्यायन-रचित कामशास्त्र आदि ग्रन्थ इसी के अन्तर्गत हैं। पुरुषार्थ होते हुए भी कामकला ग्रहण और मोक्षण, दस स्थानों का ग्रहण, चन्द्रकलारोपण आदि का उपयोग पुरुषार्थ-रूप काम में नहीं है। इसके सिवाय बहुतेरे निषिद्ध आचार के उपदेश इस तन्त्र में हैं। इसका निषिद्ध अंश कापालिक नहीं होते हुए भी वैसे आचार-परायण लोग कापालिक के समान हेय हैं।

४१. **कलासार**—वर्ण का उत्कर्ष-साधन कैसे हो सकता है, इसमें इसका वर्णन है। यह वामाचार-प्रधान तन्त्र है।

४२. **कुण्डिकामत**—इसमें गुटिका-सिद्धि का वर्णन है। यह भी वामाचार-प्रधान ग्रन्थ है।

४३. **मतोत्तरमत**—इसमें रससिद्धि की विवेचना मिलती है।

४४. **वीणाख्यतन्त्र**—वीणा एक विशेष योगिनी का नाम है। इस तन्त्र में इसी योगिनी को वश में करने का उपाय है। किन्हीं-किन्हीं के मत से वीणा योगिनी नहीं, सम्भोग-यक्षिणी का नाम है।

४५. **त्रोतलतन्त्र**—इसमें गुटिका (पानपात्र), अंजन और पादुका-सिद्धि का विवरण है।

४६. **त्रोतलोत्तर**—इसमें ६४००० यक्षिणी के दर्शन का उपाय वर्णित है।

४७. **पञ्चामृत**—पृथ्वी आदि पञ्चभूतों का मरणाभाव पिण्डाण्ड में किस प्रकार सम्भव है, इसका विवरण इसमें है। यह भी कापालिक-ग्रन्थ है।

४८—५२. **रूपभेद, भूतोड्डामर, कुलसार, कुलोड्डीश** और **कुलचूडामणि**—इन पाँच तन्त्रों में दूसरे को मारने का उपाय (मन्त्र आदि के प्रयोग से) वर्णित हुआ है। ये अवैदिक ग्रन्थ हैं।

५३ – ५७. **सर्वज्ञानोत्तर, महाकालीमत, अरुणेश, मोदनीश, विकुण्ठेश्वर**—ये पाँच तन्त्र दिगम्बर-सम्प्रदाय के उपजीव्य ग्रन्थ हैं। यह सम्प्रदाय कापालिक सम्प्रदाय का अवान्तर भेद-मात्र है।

५८—६४. **पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, निरुत्तर, विमल, विमलोत्तर और वेवीमत**—ये क्षपणक मत के ग्रन्थ हैं। क्षपणक-सम्प्रदाय दिगम्बर-सम्प्रदाय का अवान्तर भेद है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से समक्ष में आता है, ये चौंसठों तन्त्र केवल ऐहिक फल देनेवाले हैं। इनमें से किसी में भी पारमार्थिक कल्याण का कोई संकेत कहीं नहीं पाया जाता। लक्ष्मीधर की राय में ये सबके-सब अवैदिक हैं। इस प्रसंग में लक्ष्मीधर ने कहा है कि परम कारुणिक परमेश्वर ने इस कोटि के शास्त्रों की अवतारणा क्यों की, यह एक समस्या है। इसके समाधान के रूप में उन्होंने कहा है कि पशुपति शिव ने चतुर्वर्ण और मूर्धाभिषिक्तादि अनुलोम-प्रतिलोम सभी प्रकार के लोगों के लिए तन्त्र-शास्त्र की रचना की। उनमें से प्रत्येक का अधिकार सभी तन्त्रों में नहीं है। ब्राह्मण आदि तीन वर्णों का अधिकार विशुद्ध चन्द्रकला-विद्या में है, परन्तु ६४ तन्त्रों में केवल शूद्रों को ही अधिकार दिया गया है। अधिकार-भेद से व्यवस्था-भेद होता है।

जिस विशुद्ध चन्द्रकलाविद्या के बारे में पहले कहा गया, वह अवैदिक चन्द्रकला-विज्ञान से भिन्न है। आठ विशुद्ध चन्द्रकला-विद्या हैं—**चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य, दुर्वासामत....(?)**। इन सभी तन्त्रों में त्रिवर्ण का अधिकार है, शूद्रों को भी है, पर त्रिवर्ण के लिए दक्षिण-मार्ग का अनुष्ठान विधेय है, और शूद्र के लिए वामाचार का विधान है। इस विद्या में कुलमार्ग और समय-मार्ग दोनों का मिलन है।

[पाँच]

शुद्धागम-पञ्चक (समय-मार्ग)

इन पाँच आगमों के नाम हैं—**वशिष्ठ-संहिता, सनक-संहिता, शुक-संहिता, सनन्दन-संहिता और सनत्कुमार-संहिता**। यह मार्ग वैदिक है। वशिष्ठ आदि पाँच मुनि

इस मार्ग के प्रदर्शक हैं। यह समयाचार के अवलम्बन से प्रवर्त्तित हुआ है। लक्ष्मीधर ने कहा है कि शंकराचार्य स्वयं इस समयाचार का अनुसरण करते थे। सभी शुभागम शुद्ध समय-मार्ग के प्रतिपादक हैं। शुभागम में षोडश विद्या का प्रतिपादन मूल विद्या में अन्तर्भाव स्वीकार करके किया गया है। इसीलिए यह अंगरूप में गृहीत है। लेकिन चौंसठ विद्याओं के अन्तर्भुक्त जो चन्द्रज्ञान-विद्या है, उसमें षोडश नित्याओं की प्रधानता प्रतिपादित हुई है, इसीलिए यह मार्ग कौलमार्ग है।

पहले जिस स्वतन्त्र तन्त्र की बात कही गई, जिसका उल्लेख सौन्दर्य-लहरी में मिलता है, उसके सम्बन्ध में भास्कर राय 'सेतुबन्ध' में कहते हैं कि वह शायद **वामकेश्वरतन्त्र** है। **नित्याषोडशिकार्णव** इस तन्त्र के अन्तर्भुक्त है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार गौरीकान्त कहते हैं कि ६४ तन्त्रों के अलावा ६५वाँ तन्त्र शायद **ज्ञानार्णव** को ही लक्ष्य करके कहा गया है। लेकिन दूसरे सम्प्रदाय का मत है कि उस स्वतन्त्र विशेषण से प्रतीत होता है कि वह **तन्त्रराज** नामक विशिष्ट तन्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ है।

[छह]

नवयुग का चौंसठ तन्त्र :

तोडलतन्त्र में चौंसठ तन्त्रों के नाम निर्दिष्ट हैं। इस नाम-सूची को नवयुग का मत माना जा सकता है। सर्वानन्द ने अपने 'सर्वोल्लासतन्त्र' में तोडलतन्त्र में कहे गये ६४ नाम दिये हैं। इस नाम-सूची पर गौर करने से पता चलता है कि यह चतुःशती की सूची के अनुरूप नहीं और श्रीकण्ठी की सूची के भी अनुरूप नहीं है। सर्वोल्लास में दी गई तोडलतन्त्र की सूची इस प्रकार है—

१. काली, २. मुण्डमाला, ३. तारा, ४. निर्वाण, ५. शिवसार, ६. वीर, ७. निदर्शन, ८. लतार्चन, ९. तोडल, १०. नील, ११. राधा, १२. विद्यासार, १३. भैरव, १४. भैरवी, १५. सिद्धेश्वर, १६. मातृभेद, १७. समया, १८. गुप्तसाधन, १९. माया, २०. महामाया, २१. अक्षया, २२. कुमारी, २३. कुलार्णव, २४ कालिकाकुलसर्वस्व, २५. कालिका-कल्प, २६. वाराही, २७. योगिनी, २८. योगिनीहृदय, २९. सनत्कुमार,

३०. त्रिपुरासार, ३१. योगिनीविजय, ३२. मालिनी, ३३. कुब्जिका, ३४. श्रीगणेश, ३५. भूत, ३६. उड्डीश, ३७. कामधेनु, ३८. उत्तम, ३९. वीरभद्र, ४०. वामकेश्वर, ४१. कुलचूडामणि, ४२. भावचूडामणि, ४३. ज्ञानार्णव, ४४. वरदा, ४५. तन्त्र-चिन्तामणि, ४६. वाणीविलास, ४७. हंसतन्त्र, ४८. शिवाम्बरतन्त्र, ४९. फेंकारिणी, ५०. नित्या, ५१. उत्तर, ५२. नारायणी, ५३. ऊर्ध्वाम्नाय, ५४. ज्ञानद्वीप, ५५. गौतमीय, ५६. निरुत्तर, ५७. गर्जन, ५८. कुब्जिका, ५९. तन्त्रमुक्तावली, ६०. बृहत्-श्रीक्रम, ६१. स्वतन्त्र, ६२. योनि, ६३. कामाख्या,....(?)

दाशरथी तन्त्र के द्वितीय अध्याय में ६४ तन्त्रों के नाम उल्लिखित हुए हैं। यह सूची पहले की सूची से भिन्न है। India Office Library में इस तन्त्र की जो पोथी है, उसका लिपिकाल है १६७६ शकाब्द यानी सन् १७५४ ई०। हरिवंश में है कि श्रीकृष्ण ने ६४ अद्वैत तन्त्रों का अध्ययन दुर्वासा से किया था। (K. C. Pandey : 'Abhinava Gupta', p.55)। ऐसी प्रसिद्धि है कि कलियुग में अद्वैत-तन्त्र के प्रकाशक दुर्वासा ही हैं।

ईसा की आठवीं सदी के पूर्ववर्त्ती प्रसिद्ध 'जयद्रथयामल' नामक ग्रन्थ में तन्त्र-साहित्य के बारे में प्रसंगतः बहुत-सी बातें हैं। उसके प्रथम षट्क, अध्याय ४१ में कहा गया है कि यामल आठ प्रकार का है। इन आठ प्रकार के यामलों का मूल है ब्रह्मयामल। दूसरे यामलों में रुद्रयामल, यमयामल, वायुयामल और इन्द्रयामल के नाम पाये जाते हैं (जयद्रथ-यामल के ३६वें अध्याय में विद्यापीठ की तन्त्रसूची)। इनके नाम निःश्वासतन्त्र में नहीं हैं, परन्तु ब्रह्मयामल में हैं। यामल-अष्टक की भाँति मंगलाष्टक, चक्राष्टक, शिखाष्टक आदि तन्त्रवर्ग के नाम जयद्रथयामल में पाये जाते हैं। मंगलाष्टक में भैरव, चन्द्रगर्भ, शनिमंगल, सुमंगला, सर्वमंगला, विजया, अष्टमंगला, और सद्भावमंगला के नाम हैं। चक्राष्टक में ज्वरचक्र, वर्णनाड़ी, गृहाख्य, कालचक्र, सौरचक्र आदि के नाम हैं। शिखाष्टक में शौंजी, महोच्छूष्मा, भैरवी, संवरी, प्रपञ्चकी, मातृभेदी, रुद्रकाली आदि के नाम अन्तर्गत हैं (बागची, पृ० ११२)

जयद्रथयामल के ३६वें अध्याय में विद्यापीठ के तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—सर्ववीर (समायोग), सिद्ध-योगेश्वरीमत, पञ्चामृत, विश्वाद्य, योगिनीजाल-संवर, विद्याभेद, शिरश्छेद, महासम्मोहन, महारौद्र, रुद्रयामल, विष्णु-यामल, ब्रह्मयामल, रुद्रभेद, हरि (यामल), स्कन्द (यामल), गौतमी (यामल) आदि। जयद्रथयामल की एक पोथी नेपाल-दरबार में संरक्षित है। वहाँ 'पिङ्गलामत' की

सन ११७४ ई० में लिखी एक पोथी है। यह पोथी ब्रह्मयामल के परिशिष्ट के रूप में वर्णित होती है। इसमें 'जयद्रथयामल' की चर्चा है। 'पिङ्गलमत' के अनुसार प्राचीन-काल में ब्रह्मयामल अनुसरणकारी सात तन्त्रों के मत प्रचलित थे। उनमें से दुर्वासा का मत, सारस्वत मत आदि विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४